नमो नमः श्री गुरुराम-जगच्चन्द्रसूरये॥

मुक्तावली- अनुमान खण्ड Notes

★ अनुमिति में करण = व्याप्तिज्ञान, व्यापार = परामर्श।
व्याप्तिज्ञान = धूमः वह्निव्याप्यः, परामर्श = वह्निव्याप्यधूमवान् अयम्।
अनुमिति = पर्वतो वह्निमान्।
किसी पुरुष ने महानसादि में वह्नि के साथ धूम की व्याप्ति ग्रहण की हो। फिर वही पुरुष कहीं पर्वतादि पर धूम देखे। उसे व्याप्तिज्ञान का स्मरण होता है, फिर उपर्युक्त परामर्श ज्ञान → अनुमिति।

★ प्राचीन नैयायिक का मत – व्याप्यरूप से ज्ञायमान लिंग अनुमिति का करण है (व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिंगं अनुमितिकरणम्)।
उत्तरपक्ष – यदि अनुमिति में लिंग को करण मानोगे तो भूत या भविष्य के लिंग से अनुमिति नहीं होगी क्योंकि उस समय अनुमिति के करण का अभाव है।

★ परामर्श = व्याप्ति से विशिष्ट ऐसे व्याप्य (लिंग) का पक्ष के साथ वैशिष्ट्य (संबंध) का अवगाहन करने वाला ज्ञान। यही ज्ञान अनुमिति का जनक है।
यह ज्ञान पक्षे व्याप्यः या पक्षः व्याप्यवान् इत्याकारक।
अनुमिति पक्षे साध्यम् या पक्षः साध्यवान् इत्याकारक।
अन्य मत – दोनों परामर्श से 'पक्षः साध्यवान्' ऐसी ही अनुमिति।

★ मीमांसक मत – 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' परामर्श ज्ञान बिना भी 'पर्वतः धूमवान्' ऐसे प्रत्यक्ष और 'वह्निव्याप्यः धूमवान्' ऐसी व्याप्ति से अनुमिति हो जाने से परामर्श सर्वत्र कारण नहीं है। किंतु ~~सक्ता~~ व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक वाला पक्षधर्मता के ज्ञान रूप में कारण आवश्यक है – (Pg.2)

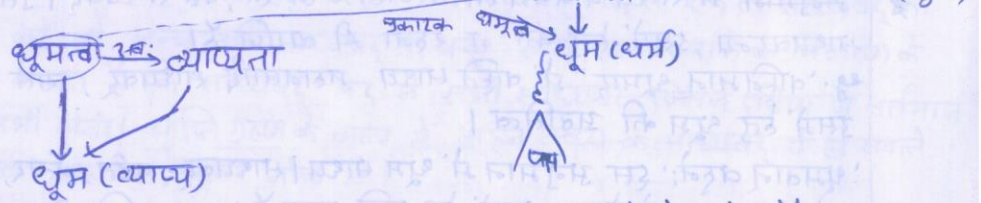

तो परामर्श रूप विशिष्ट ज्ञान की कल्पना में गौरव होने से (दोष है)।
उत्तरपक्ष – व्याप्यतावच्छेदक का ज्ञान न होने पर भी 'वह्निव्याप्यवान्' इस ज्ञान से अनुमिति हो जाती है और इसमें लाघव भी है। (क्योंकि व्याप्यता और अवच्छेदक तक जाने की जरूर ही नहीं) → (ऐसी अनुमिति से आपके हेतु में व्यभिचार है)

(* (Pg.No-1 पर) अर्थात् पक्ष की धर्मता के ज्ञान में साध्यता का अवच्छेदक प्रकार होना चाहिए।)

तथा कोई ऐसा ज्ञान करे कि 'धूमवान् पर्वतः' तो उसे भी अनुमिति (पर्वतो वह्निमान्) होने की आपत्ति आएगी क्योंकि उसे पक्ष की धर्मता के ज्ञान में 'धूमत्व (व्याप्यतावच्छेदक) प्रकार है।

मीमांसक- ग्रहण किया जाता हुआ व्याप्यतावच्छेदक ~~सम~~ प्रकारक पक्षधर्मताज्ञान हेतु होने से कोई दोष नहीं होगा।

उत्तरपक्ष इसमें भी दोष है क्योंकि चैत्र के व्याप्तिग्रहण करने पर मैत्र को ~~अनुमिति~~ पक्षधर्मता के ज्ञान से अनुमिति होने की आपत्ति है।

मीमांसक उस पुरुष द्वारा गृह्यमाण व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक पक्षधर्मताज्ञान उसी पुरुष की अनुमिति में हेतु है।

उ. (अनंत पुरुष होने से) अनंत कार्य-कारण भाव मानने पड़ेंगे।
मेरे मत में तो समवाय संबंध से व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मताज्ञान समवाय संबंध से अनुमिति को उत्पन्न करता है, अतः अनंत कार्य-कारण भाव नहीं है। (खंडन हो गया)

मीमांसक व्याप्ति प्रकारक ज्ञान और पक्षधर्मताज्ञान स्वतंत्र कारण है।

उ. तो दो कार्य-कारण भाव होंगे (अर्थात् कार्य एक, कारण दो मानने पड़ेंगे)।
वह्निव्याप्यः धूमः' और 'आलोकवान् पर्वतः' इस ज्ञान से भी अनुमिति होगी।
जब व्याप्ति और परामर्श रूप दो ज्ञान होते हैं तब भी उपनय रूप विशिष्ट ज्ञान की कल्पना तो करना ही पड़ती है। अतः फलाभिमुख होने से गौरव दोष नहीं है।

अत. व्याप्य यानि व्याप्ति का आश्रय। व्याप्ति का लक्षण -
व्याप्तिः साध्यवदन्यास्मिन्नसम्बन्धः (कारिका ६४)

★ ~~अनुमान में साध्य देखना~~ साध्य जहाँ-जहाँ हो, वह साध्यवद्। उससे अन्य अर्थात् साध्यवदन्य, इसमें हेतु का न रहना ही व्याप्ति है।
उ. 'वह्निमान् धूमात्' में वह्नि साध्य, महानसादि साध्यवद्, उससे अन्य जलह्रदादि उसमें हेतु धूम की अवृत्तित्व।
'धूमवान् वह्नेः' इस अनुमान में धूम साध्य। साध्यवद्= पर्वत, भत्वर, गोष्ठ, महानस। उससे अन्य तप्तायोगोलक, इसमें हेतु वह्नि रहता है। अतः वह्नि की धूम के साथ व्याप्ति नहीं है किंतु धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति है (व्याप्य की व्यापक के साथ व्याप्ति)। इस अनुचित स्थल में भी व्याप्ति के लक्षण में अतिव्याप्ति नहीं हुई।

★ पू. 'वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में साध्य वह्नि। साध्यवद्- समवाय संबंध से वह्नि का अवयव। उससे अन्य महानसादि। साध्यवदन्य महानसादि में

धूम रहने से आपको लक्षण में अव्याप्ति की आपत्ति है।

उ. येन सम्बन्धेन साध्यं तेनैव सम्बन्धेन साध्यवान् बोध्यः ⇒ उपर्युक्त लक्षण में जो साध्यवद् है, वह अनेक संबंध से हो सकता है e.g. वह्नि साध्य का संयोग संबंध से साध्यवद् पर्वतादि, समवाय संबंध से वह्नि का अवयव वि.। व्याप्ति के लक्षण में, पक्ष में जिस संबंध से साध्य रहता हो, उसी संबंध से साध्यवान् जानना।

★ पू. साध्य-वह्नि। साध्यवद् - महानस। उससे भिन्न-पर्वतादि। ऐसे एक साध्यवद् से अन्य पर्वतादि में धूम होने से लक्षण में अव्याप्ति की आपत्ति है।

उ. साध्यवदन्यश्च साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान् बोध्यः ⇒ इस पंक्ति को खुलासे के पहले एक दृष्टांत →

घटः पटो न

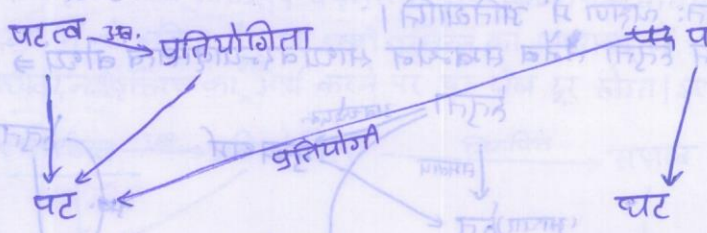

घट पट नहीं है अर्थात् घट में पट का अन्योन्याभाव है (तादात्म्य संबंध से होने वाला अभाव)। अतः घट में पटभेद रहता है (अत्यन्ताभाव को 'अभाव' शब्द से दर्शाते हैं, अन्योन्याभाव को 'भेद' शब्द से दर्शाते हैं)। इस पट भेद का प्रतियोगी पट, अतः पट में प्रतियोगिता रहती है, वह पटत्व से अवच्छिन्न होगी।

पूर्वपक्ष की आपत्ति है कि हम लक्षण में 'साध्यवद्' शब्द से एक ही साध्यवद् का ग्रहण करें तो अन्य सभी साध्यवद् से अन्य' होंगे। इस आपत्ति के निवारण के लिए कहना है कि 'साध्यवद्' पद से सभी साध्यवद्, जितने दुनिया में वर्तमान हैं, सभी लेना। व्याप्ति ग्रहण के काल में वह्नि साध्य के साध्यवद् ये हो सकते हैं - पर्वत, महानस, पत्थर, गोष्ठ वि।

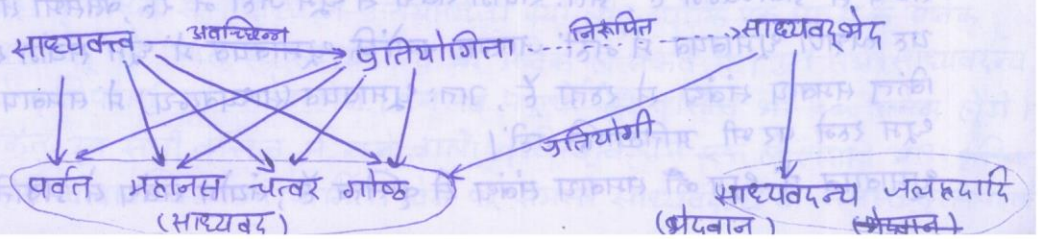

अतः पर्वतादि में साध्यवत्त्व धर्म रहता है। इन साध्यवद् का भेद (अन्योन्याभाव) साध्यवदन्य जलह्रदादि में रहेगा। अतः इस भेद के प्रतियोगी सभी साध्यवद् होंगे, उनमें प्रतियोगिता रहती है, वह साध्यवत्त्व से अवच्छिन्न होगी। व्याप्ति के लक्षण में 'साध्यवदन्य' पद का अर्थ साध्यवत्त्व धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता से निरूपित भेद वाली जलह्रदादि लेना। इससे अव्याप्ति नहीं होगी।

पहले मात्र महानस साध्यवद् लेने से पर्वतादि में लक्षण नहीं पहुँच रहा था, अतः अव्याप्ति हो रही थी। अतः साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान् साध्यवदन्य लेने से समस्त साध्यवद् का यहाँ ग्रहण हो गया।

★ प्र. 'वह्निमान् धूमात्' अनुमान में साध्य वह्नि। साध्यवद्- महानस। साध्यवदन्य- ~~समवाय संबंध से~~ धूम का अवयव। इस धूमावयव में ~~साध्य~~ हेतु धूम समवाय संबंध से रहता है, अतः लक्षण में अतिव्याप्ति।

उ. येन सम्बन्धेन हेतुता तेनैव सम्बन्धेन साध्यवदन्यावृत्तित्वं बोध्यं ⇒

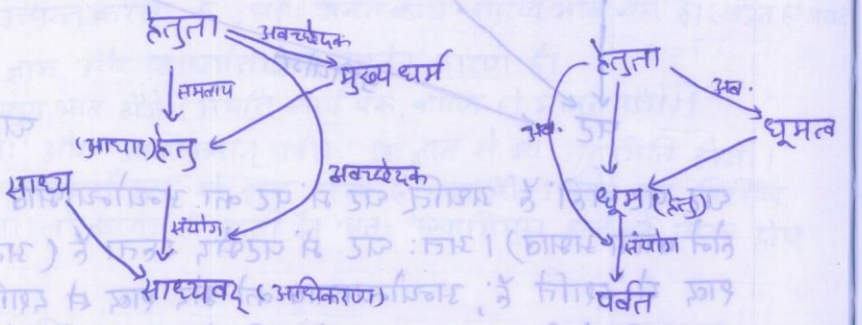

हेतुता वि. शक्तियों के दो अवच्छेदक होते हैं ① उस शक्ति का समवाय संबंध से आधार, उस आधार का मुख्य धर्म ② वह आधार जिस संबंध से उसके अधिकरण में रहता हो, वह संबंध। उ.ध. धूम पर्वत में संयोग से रहता है तो धूम में रही हेतुता धूमत्व और संयोग संबंध से अवच्छिन्न होती है।

जिस संबंध से हेतुता अवच्छिन्न होती है, उसी संबंध से हेतु का साध्यवदन्य में अवृत्तित्व लेने पर उपर्युक्त अतिव्याप्ति नहीं आएगी। जैसे- यहाँ हेतुता संयोग संबंध से अवच्छिन्न है, अतः संयोग संबंध से धूम जहाँ न रहे, वैसे सभी साध्यवदन्य, यह लक्षण धूमावयव में नहीं जाएगा क्योंकि धूमावयव में धूम संयोग से नहीं, किंतु समवाय संबंध से रहता है, अतः धूमावयव (साध्यवदन्य) में समवाय से धूम रहने पर भी अतिव्याप्ति नहीं।

धूमावयव में धूम की समवाय संबंध से वृत्तित्व है, संयोग संबंध से अवृत्तित्व।

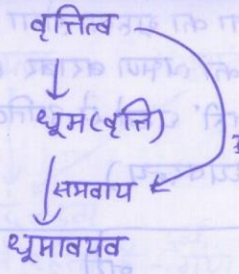

★ प्र. 'धूमवान् वह्नेः' इस अनुमान में साध्य धूम। साध्यवद्-पर्वत, पत्थर, महानसादि। साध्यवदन्य - जलह्रदादि। यहाँ साध्यवदन्य जलह्रदादि में हेतु वह्नि न होने से आपका लक्षण यहाँ घट जाएगा, जिससे अतिव्याप्ति दोष अर्थात् यह अनुमान गलत है, ऐसे गलत जगह पर भी आपका लक्षण घट गया।

उ. साध्यवदन्यावृत्तित्वं च साध्यवदन्यवृत्तित्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः ⇒ साध्यवदन्य में जो वृत्तित्व है, उन सभी वृत्तित्व का साध्यवद् में अभाव होना चाहिए, ~~इस~~ साध्यवदन्यावृत्तित्व का ऐसा अर्थ करने पर यह दोष दूर होगा। इसे ही विशेष से कहते हैं:

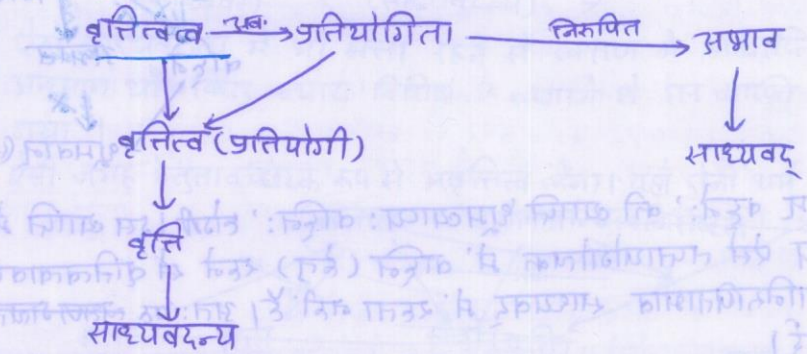

साध्यवदन्य में वृत्ति (रहने वाले पदार्थ) में वृत्तित्व रहता है। इसी वृत्तित्व का अभाव साध्यवद्~~न्य~~ में होना चाहिए अतः यह वृत्तित्व ~~साध्य~~ प्रतियोगी है। उसमें प्रतियोगिता रहती है। वह प्रतियोगिता वृत्तित्वत्व से अवच्छिन्न होती है। इस वृत्तित्वत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता से निरूपित अभाव साध्यवद् में होना चाहिए। यदि ऐसा अभाव नहीं है तो वहाँ व्याप्ति ~~लक्ष~~ का लक्षण नहीं जाएगा।

यहाँ वृत्तित्वत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता क्यों ली? क्योंकि एक साध्य के अनेक साध्यवद् हो सकते हैं। साध्यवदन्य भी अनेक हो सकते हैं। उन सभी साध्यवदन्य में वृत्ति पदार्थ भी अनेक होंगे। उन सब पदार्थों के वृत्तित्व भी ~~एक~~ अनेक होंगे। किंतु उन सभी वृत्तित्व में रहने वाला वृत्तित्वत्व धर्म एक ही होगा। अतः ~~वृत्तित्व~~ वृत्तित्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता लेने पर समस्त साध्यवदन्य के समस्त वृत्तिपदार्थ

में रहे समस्त वृत्तित्व की प्रतियोगिता का ग्रहण होगा। ऐसी प्रतियोगिता से निरूपित अभाव साध्यवद् में रहने पर व्याप्ति का लक्षण बराबर होगा।
पूर्वपक्ष उक्त व्याप्ति में यह लक्षण नहीं घटने से अतिव्याप्ति नहीं होगी –

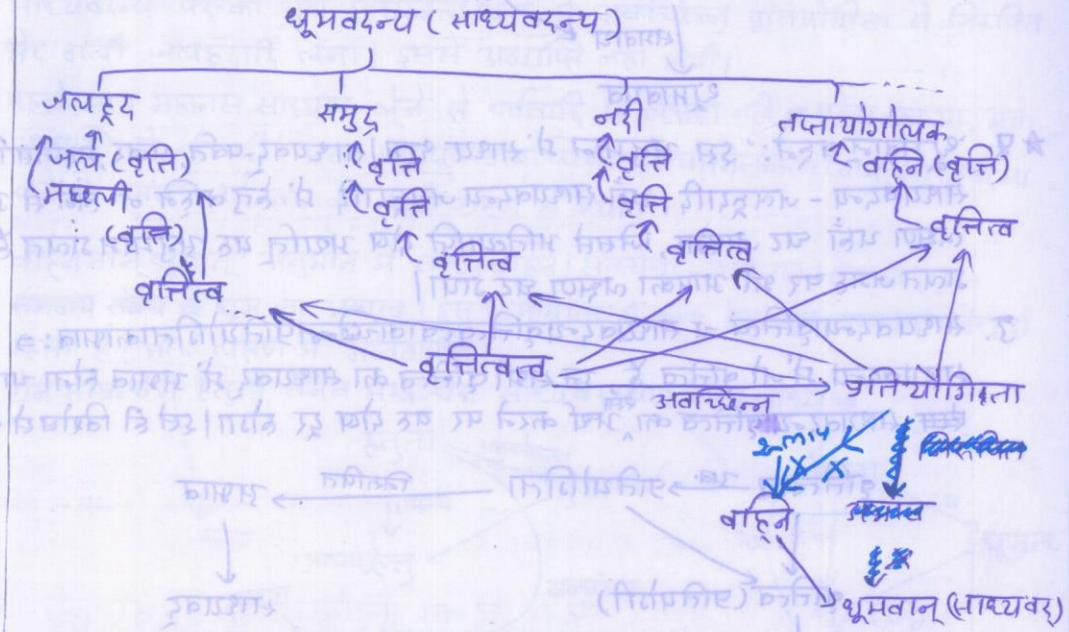

'धूमवानयम् वह्नेः' की व्याप्ति धूमव्याप्यः वह्निः' होगी। इस व्याप्ति में साध्यवदन्य ऐसे तप्तायोगोलक में वह्नि (हेतु) रहने से वृत्तित्वत्वावच्छिन्न-प्रतियोगितानिरूपिताभाव साध्यवद् में रहता नहीं है। अतः यह ~~लक्षण गलत~~ व्याप्ति गलत हो गई।
वह्नि की धूम के साथ व्याप्ति न होने पर भी उपर्युक्त लक्षण घटने से होने वाली अतिव्याप्ति दूर हुई।

पू. ~~साध्यवदन्य में रहे सभी वृत्तित्व का अभाव साध्यवद् में होना चाहिए किंतु ऐसा नहीं होता क्योंकि e.g. वृक्ष साध्यवद् वृत्ति पर भी सत्ता है और साध्यवदन्य जैसे कि में भी सत्ता है। (वह्निमान् धूमात् प्रयोग में)।~~

★ पू. ₹ 'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वात्' इस अनुमान में 'विशिष्ट शुद्ध से अतिरिक्त नहीं होता' इस न्याय से विशिष्टसत्ता और शुद्ध सत्ता एक होने से अव्याप्ति।
₹. अर्थात् कोई ऐसा अनुमान करे कि 'इदं द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वात्' यह विवक्षित वस्तु द्रव्य है क्योंकि उसमें गुण-कर्म के अन्यत्व से विशिष्ट सत्ता है –

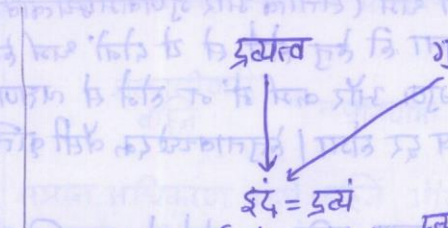

सत्ता 3 पदार्थ में रहती है - द्रव्य, गुण, कर्म। यदि यह सत्ता गुण और कर्म के अन्यत्व से विशिष्ट है, तो यह द्रव्य की सत्ता है। अतः द्रव्य की सिद्धि होगी। किंतु यहाँ 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' न्याय से सभी सत्ता एक ही है। अतः वह एक ही सत्ता तीनों में रहती है।

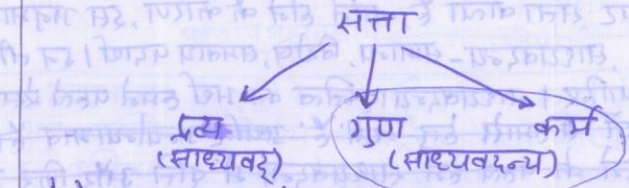

ऐसे साध्यवदन्य में भी सत्ता रहने से लक्षण में अव्याप्ति क्योंकि यह सही अनुमान था किंतु न्याय 'विशिष्टं..' लगाने से इस व्याप्ति में लक्षण नहीं गया।

5. ऐसी जगह हेतुतावच्छेदक रूप से अवृत्तित्व लेना। यहाँ दोनों धर्म हेतुतावच्छेदक होंगे -

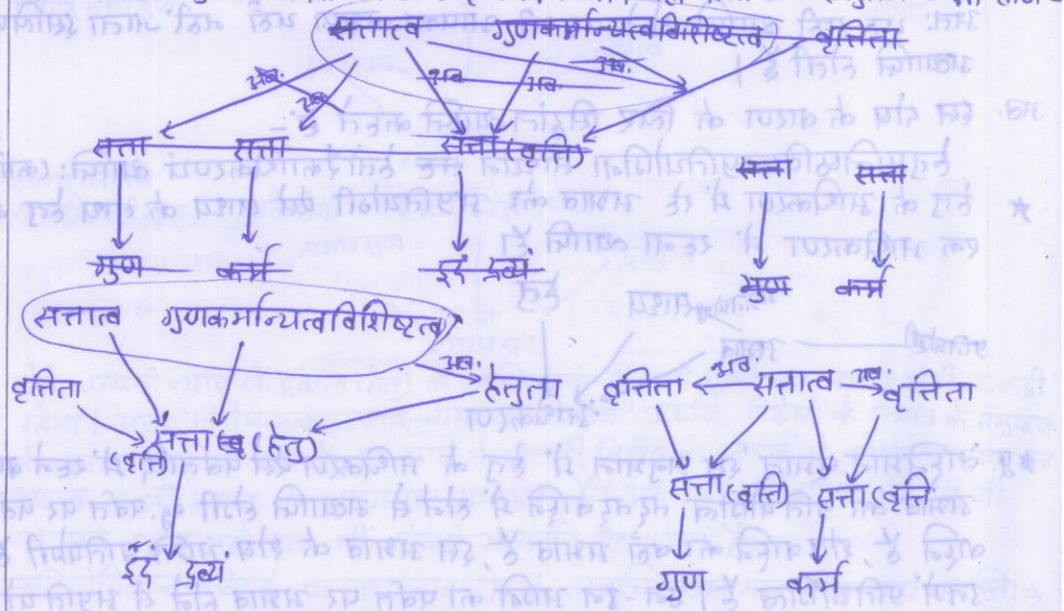

यहाँ गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता में रहे दोनों धर्म (सत्तात्व और गुणकर्मान्यत्वविशिष्टत्व) सत्ता के अवच्छेदक होंगे। अनुमान में सत्ता ही हेतु होने से ये दोनों धर्म हेतुता के अवच्छेदक होंगे। ऐसा हेतुतावच्छेदक गुण और कर्म में न होने से लक्षण गुण-कर्म में नहीं जाएगा। अतः अव्याप्ति दोष दूर होगा। हेतुतावच्छेदक वैसी वृत्तिता का अवच्छेदक नहीं है।

★पू. ① ज्ञेयत्वादि केवलान्वयी साध्य होने पर साध्यवदन्य प्रसिद्ध न होने से अव्याप्ति होगी- कोई अनुमान करे 'सर्वं ज्ञेयं ~~ज्ञेयत्वस्य~~'। यहाँ ज्ञेयत्व साध्य है। साध्यवद् - सर्व (प्रमेय जगत्)। साध्यवदन्य - ? कोई है ही नहीं। साध्यवदन्य न होने से उसमें हेतु का असंबंध निश्चित नहीं कर सकने से सही जगह पर भी व्याप्ति का लक्षण न घटने से अव्याप्ति।

② 'घटः सत्तावान् जातेः' यह घट सत्ता वाला है, जाति होने के कारण, इस अनुमान में साध्य सत्ता, साध्यवद् - घट, साध्यवदन्य - सामान्य, विशेष, समवाय पदार्थ। इन तीन पदार्थों में हेतु नहीं होना चाहिए। साध्यवदन्यावृत्तित्व का अर्थ हमने पहले ऐसा किया ~~कि साध्यवदन्य में वृत्ति पदार्थों से हमारे हेतु नहीं है अर्थात् अन्योन्याभाव है~~ ~~अतः व्याप्ति का निर्णय करने के वक्त हमें साध्यवदन्य में वृत्ति और फिर उसकी साध्यवद् में अभाव देखना पड़ता है।~~

यहाँ इस अनुमान में जाति घट में समवाय से रहती है, अतः हेतुतावच्छेदक संबंध समवाय है। इस हेतुतावच्छेदक संबंध से साध्यवदन्य ऐसे सामान्य, विशेष, समवाय में कोई पदार्थ वृत्ति (रहता) नहीं है तो उसका साध्यवद् में अभाव कैसे देखें! अतः यह सही व्याप्ति होने पर भी आपका लक्षण यहाँ नहीं जाता इसलिए अव्याप्ति होती है।

अत. इस दोष के वारण के लिए सिद्धांत व्याप्ति कहते हैं -

हेतुमन्निष्ठविरहप्रतियोगिना साध्येन सह हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिः (कारिका ७७)

★ हेतु के अधिकरण में रहे अभाव का अप्रतियोगी ऐसे साध्य के साथ हेतु का एक अधिकरण में रहना व्याप्ति है।

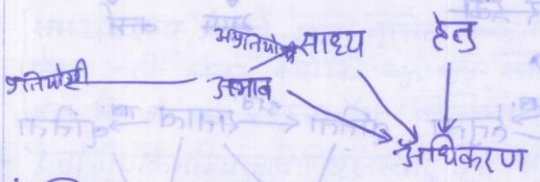

★पू. वह्निमान् धूमात् इस अनुमान में हेतु के अधिकरण ऐसे पर्वतादि में रहने वाले अभाव का प्रतियोगित्व तद्तद् वह्नि में होने से अव्याप्ति होगी e.g. पर्वत पर पर्वतीय वह्नि है, शेष वह्नि का वहाँ अभाव है, इस अभाव के शेष अग्नि प्रतियोगी है, अतः उनमें प्रतियोगित्व है। उन-उन अग्नि का पर्वत पर अभाव होने से अप्रतियोगित्व

न होने से ऐसे सही स्थल में भी आपका लक्षण न जाने से अव्याप्ति होगी।

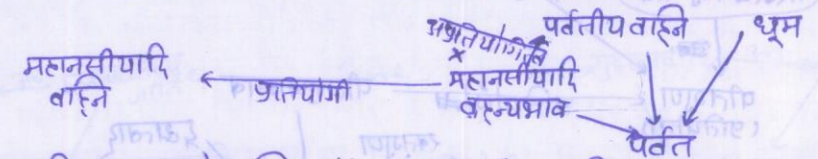

उ. समान अधिकरण वाले वह्नि और धूम की ही व्याप्ति होती है।

पू. ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि एक होने पर भी 'दोनों नहीं है' ऐसी प्रतीति होने से उस-उस वह्नि का भी उभयाभाव है।

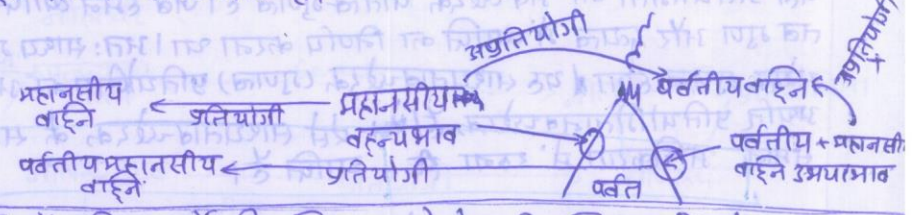

→ साध्यवदन्य में वृत्ति पदार्थों की वृत्तिता हमारे हेतु की वृत्तिता नहीं होना चाहिए। अतः व्याप्ति का निर्णय करने के पहले हमें सभी साध्यवदन्य में वृत्ति, उसकी वृत्तिता और इस वृत्तिता का हमारे हेतु ~~की वृत्तिता~~ में अभाव देखना पड़ता है।

तथा 'गुणवान् द्रव्यत्वात्' में भी अव्याप्ति है क्योंकि द्रव्यत्व के अधिकरण में सभी गुणों का अभाव होगा (चालनी न्याय से यह अभाव लेना अर्थात् द्रव्यत्व के अनेक अधिकरण है, किसी में एक गुण का अभाव, दूसरे में दूसरे गुण का अभाव...)

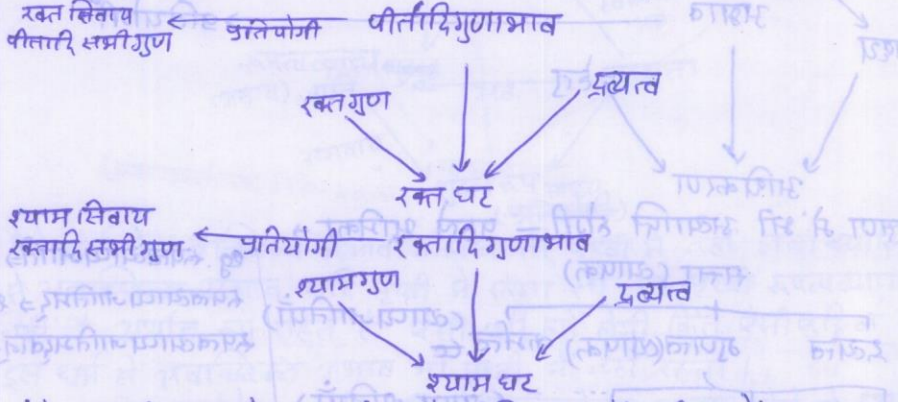

ऐसे चालनी न्याय से द्रव्यत्व (हेतु) के अधिकरण में सभी गुणों का अभाव कहीं-न-कहीं रहेगा। अतः 'विशेषाभावकूटत्वं सामान्याभावकत्वं' अर्थात् विशेषों के अभाव के समुदाय से सामान्याभाव हो जाता है, इस न्याय से पीतादि विशेष के अभाव से सामान्य 'गुण' का अभाव ~~से~~ भी द्रव्यत्व के अधिकरण में रहता है। अतः यह सही व्याप्ति होने पर भी आपका लक्षण यहाँ घटा नहीं होने से अव्याप्ति दोष होता है।

उ. प्रतियोगितानवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः ⇒

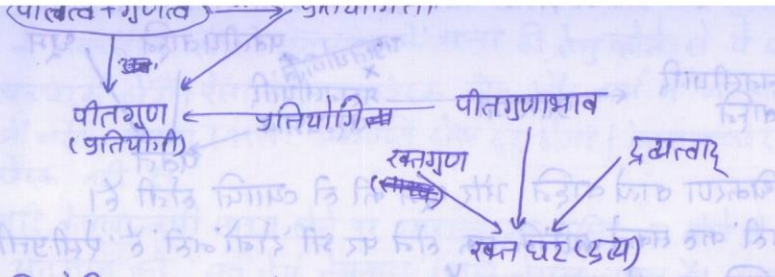

यहाँ प्रतियोगिता का अवच्छेदक पीतत्व-गुणत्व है। जब हमने व्याप्ति ग्रहण शुरू किया था, तब गुण और द्रव्यत्व में व्याप्ति का निर्णय करना था। अतः साध्य गुण होगा, साध्यतावच्छेदक गुणत्व होगा। यह साध्यतावच्छेदक (गुणत्व) प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं है अर्थात् प्रतियोगितानवच्छेदक है। ~~ऐसे साध्यतावच्छेदक के साथ~~ हेतु का समानाधिकरण में रहना ही व्याप्ति है।

★ पू. आपने लक्षण ऐसा बनाया कि हेतु के अधिकरण में रहे अभाव से निरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक न हो, ऐसे साध्यतावच्छेदक के साथ हेतु का समानाधिकरण में रहना।

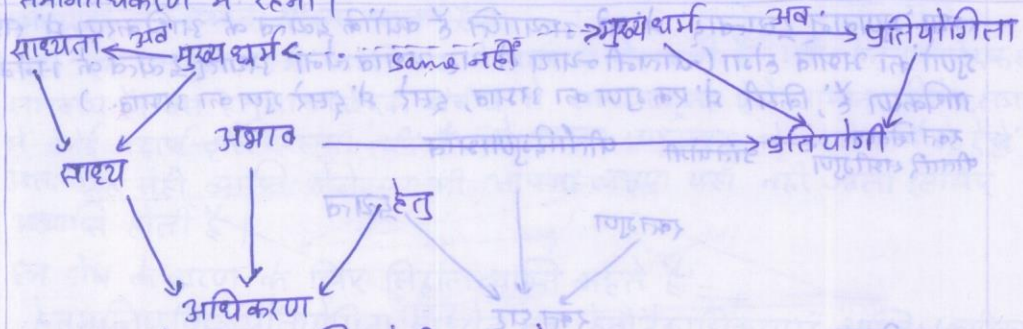

इस लक्षण में भी अव्याप्ति होगी – पहले भूमिका →

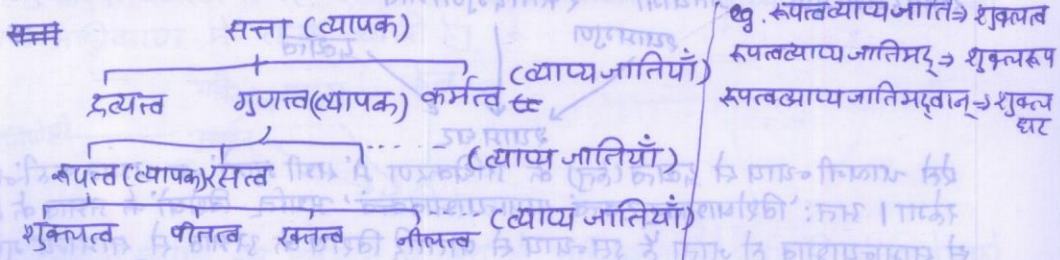

पू. रूपत्वव्याप्यजाति → शुक्लत्व
रूपत्वव्याप्यजातिमद् → शुक्लरूप
रूपत्वव्याप्यजातिमद्वान् → शुक्ल घट

कोई ऐसा अनुमान करे 'अयं रूपत्वव्याप्यजातिमद्वान् पृथिवीत्वात्' यह रूपत्व की व्याप्य जातिमद् वाला है, पृथ्वी होने से। इसमें ~~साध्यत्व~~ साध्यतावच्छेदक रूपत्व की व्याप्य जातियाँ होंगी। ये साध्यतावच्छेदक रूपत्वव्याप्यजातियाँ ही नीलघटादि

में रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदक है अतः अव्याप्ति।

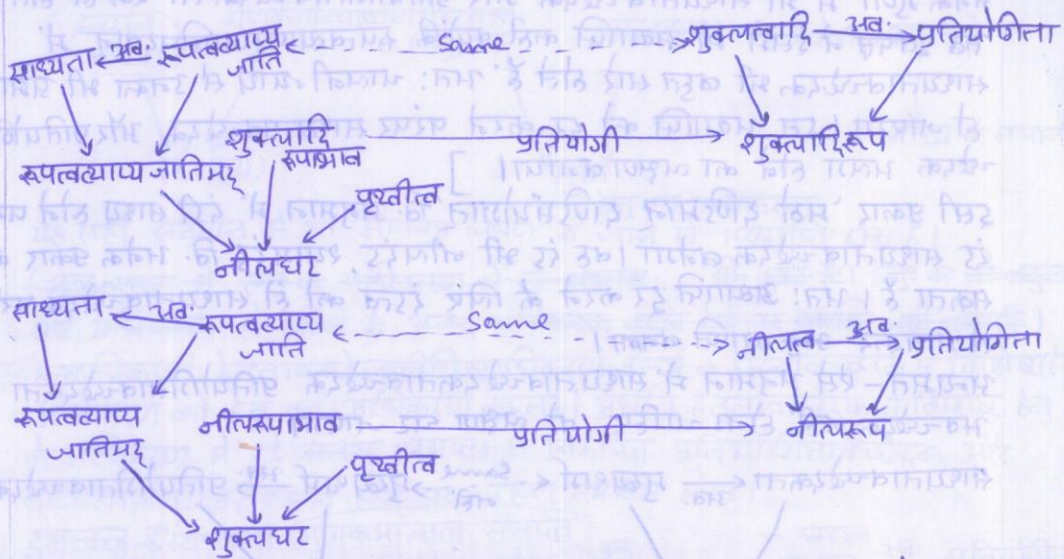

उ. तत्र परम्परया रूपत्वव्याप्यजातित्वस्यैव साध्यतावच्छेदकत्वात् ⇒ यहाँ परंपर संबंध से रूपत्वव्याप्यजातित्व को साध्यतावच्छेदक बनाना

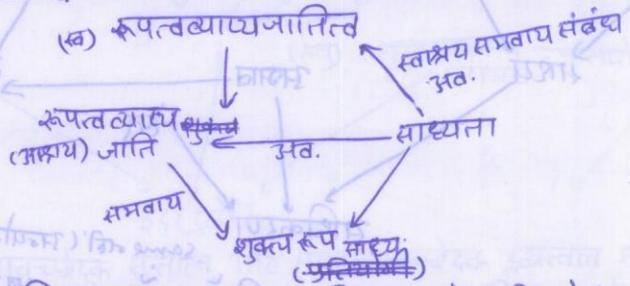

ऐसे धर्म से अवच्छिन्न अभाव नीलघटादि पृथ्वी में नहीं होता क्योंकि ऐसे धर्म से अवच्छिन्न अभाव यदि पृथ्वी में रहेगा तो 'यह पृथ्वी रूपत्वव्याप्यजातिवाली नहीं है अर्थात् रूप रहित है' ऐसी बुद्धि हमें होगी किंतु ऐसी बुद्धि न होने से इस धर्म से अवच्छिन्न अभाव भी पृथ्वी में नहीं रहता।
अतः साध्यतावच्छेदक और प्रतियोगितावच्छेदक अलग होने से हमारा लक्षण घट गया। अव्याप्ति दूर हुई।

[मूल तो साध्य और हेतु के अधिकरण में रहे अभाव का प्रतियोगी अलग होना चाहिए। किंतु पूर्वपक्ष ने उसमें 'गुणवान् द्रव्यत्वात्' अनुमान में अव्याप्ति बताई क्योंकि गुण बहुत सारे होने से चालनी न्याय से (अलग-अलग अधिकरण में) उनका अभाव हो जाता है। अतः यहाँ अव्याप्ति दूर करने के लिए

साध्यतावच्छेदक और प्रतियोगितावच्छेदक अलग होने का लक्षण किया क्योंकि अनेक गुणों में भी साध्यतावच्छेदक और प्रतियोगितावच्छेदक तो एक ही होते हैं। [तब पूर्वपक्ष ने इसमें भी अव्याप्ति कही क्योंकि रूपत्वव्याप्यजातिमद्वान् में साध्यतावच्छेदक भी बहुत सारे होते हैं अतः चालनी न्याय से उनका भी अभाव हो जाएगा। (इस अव्याप्ति को दूर करने परंपर साध्यतावच्छेदक और प्रतियोगितावच्छेदक अलग होने का लक्षण बनाया।]

इसी प्रकार 'अयं दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्' वि॰ अनुमान में दंडी साध्य होने पर दंड साध्यतावच्छेदक बनेगा। वह दंड भी नीलदंड, श्यामदंड वि॰ अनेक प्रकार का हो सकता है। अतः अव्याप्ति दूर करने के लिए दंडत्व को ही साध्यतावच्छेदक परंपरा से मानकर ~~अनु~~ व्याप्ति बनाना।

अन्यमत – ऐसे अनुमान में साध्यतावच्छेदकतावच्छेदक प्रतियोगितावच्छेदकता का अवच्छेदक नहीं होना चाहिए, तो लक्षण घट जाएगा –

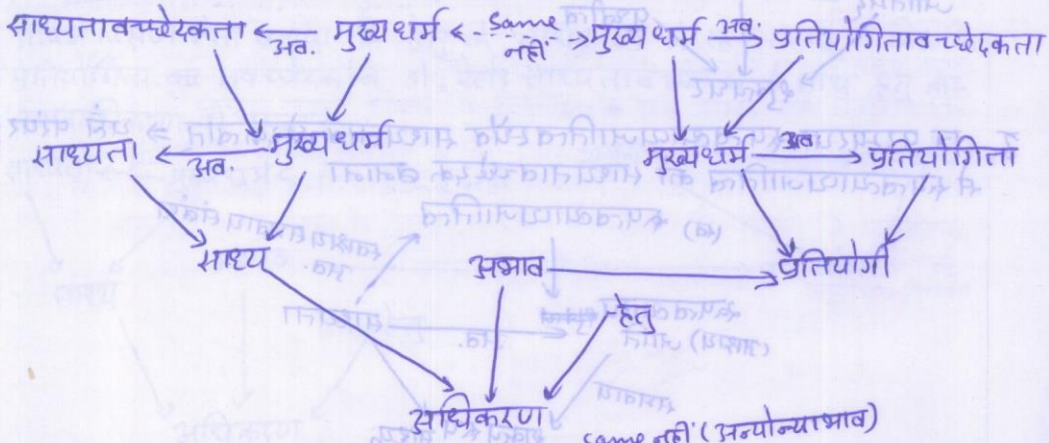

Same नहीं (अन्योन्याभाव)

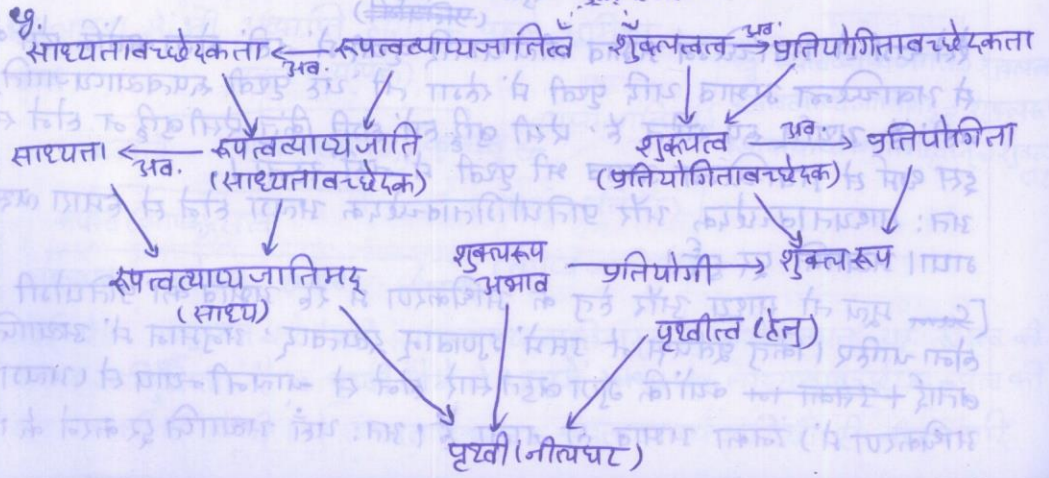

★ पू. 'इदं द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशेषसत्त्वात्' इस अनुमान में शुद्ध सत्ता के अधिकरण गुणादि में रहे अभाव का प्रतियोगित्व द्रव्यत्व में आने पर अव्याप्ति –

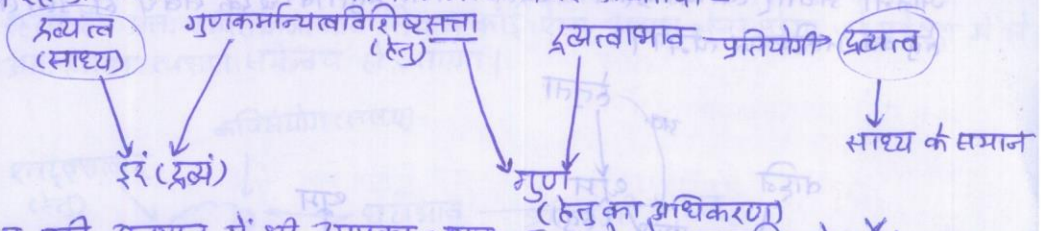

यह सही अनुमान में भी आपका लक्षण न जाने से अव्याप्ति दोष है।

~~(मूल लक्षण में हेतु के अधिकरण में रहे अभाव ... कि कहा है। हेतु के ~~~ ~~साध्य अधिकरण से सकते हैं अतः अधिकरण वृत्ति देने पर व्याप्ति नहीं बनेगी~~)

उ. हेत्वधिकरणं हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरणं वाच्यं ⇒ हेतुतावच्छेदक से विशिष्ट (हेतु) अधिकरण को हेतु का अधिकरण कहना। अर्थात् हेतुतावच्छेदक से विशिष्ट हेतु के अधिकरण में रहे ~~साध्य~~ अभाव से निरूपित प्रतियोगितावच्छेदक और साध्यतावच्छेदक एक न होने पर लक्षण समन्वय होगा।

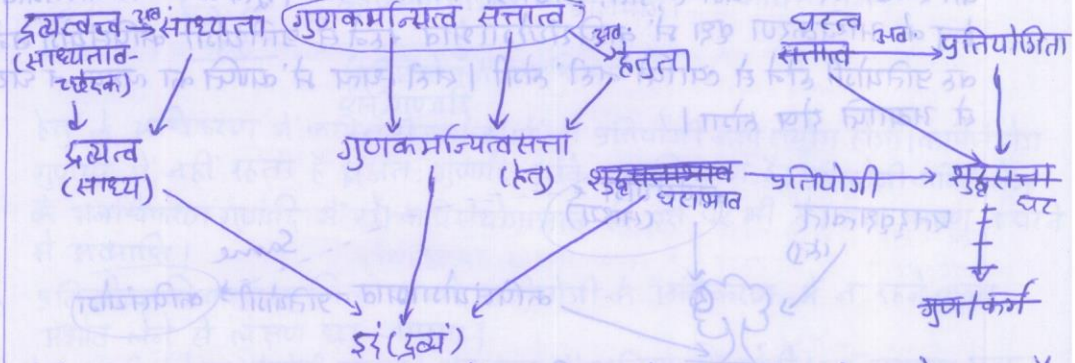

यहाँ प्रतियोगितावच्छेदक सत्तात्व और साध्यतावच्छेदक द्रव्यत्वत्व में अन्योन्याभाव है। अतः ऐसे साध्यतावच्छेदक के साथ हेतु का एक अधिकरण में रहना ही व्याप्ति है।

★ पू. 'वह्निमान् धूमात्' प्रयोग में ~~साध्य~~ हेतु धूम। उसका अधिकरण धूमावयव। इस धूमावयव में रहे अभाव का प्रतियोगी वह्नि भी है। अतः धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति नहीं होगी। सही स्थल में लक्षण न जाने से अव्याप्ति दोष होगा।

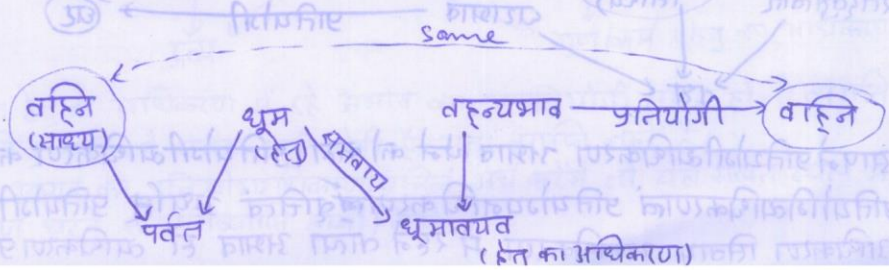

उ. हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन हेत्वधिकरण बोध्य ⇒ हेतुतावच्छेदक संबंध से ही हेतु का अधिकरण जानना अर्थात् व्याप्ति ग्रहण के स्थल में जो हेतुतावच्छेदक संबंध हो, उसी संबंध से हेतु का अधिकरण लेना।

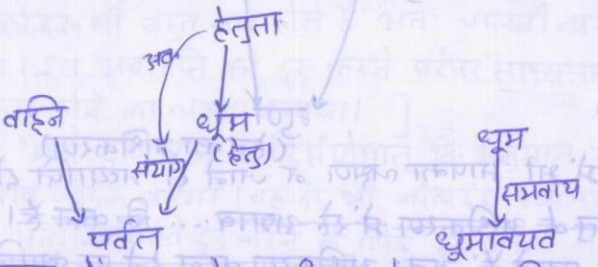

अतः धूमवत में धूम रहने पर भी वह हेतु का अधिकरण नहीं बनेगा क्योंकि वह समवाय संबंध से है। अतः अन्य हेतु के अधिकरण महानसादि में व्याप्ति का निर्णय करने पर लक्षण घट जाएगा। अव्याप्ति दोष दूर होगा।

★ पू. वृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' अनुमान, हेतु एतद्वृक्ष का अधिकरण वृक्ष। वृक्ष की शाखा पर कपि बैठा है, अतः शाखा में कपिसंयोग है। मूल में कपिसंयोगाभाव है। हेतु के अधिकरण वृक्ष में कपिसंयोगाभाव रहने से प्रतियोगी कपिसंयोग बनेगा। वह प्रतियोगी होने से व्याप्ति नहीं होगी। इसी स्थल में व्याप्ति का लक्षण न घटने से अव्याप्ति दोष होगा।

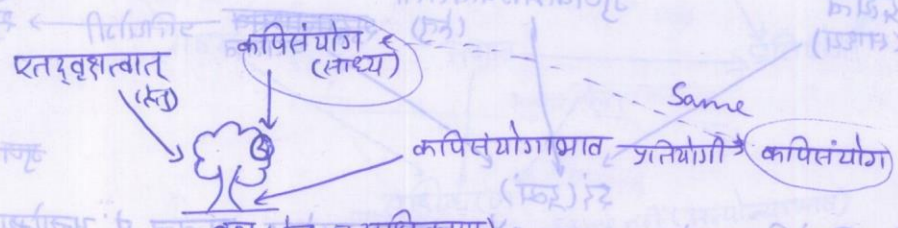

उ. अभावः प्रतियोगित्यधिकरणो बोध्यः ⇒ जिस अभाव का प्रतियोगी, उसी अभाव के साथ एक अधिकरण में कहीं भी न रहता हो, ऐसा व्यधिकरण प्रतियोगी वाला अभाव लक्षण में लेने से अव्याप्ति दूर होगी। eg. घटाभाव

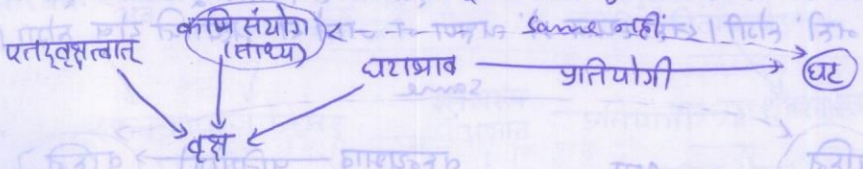

★ पू. आपने प्रतियोगीव्यधिकरण अभाव लेने को कहा। प्रतियोगीव्यधिकरण का अर्थ क्या?

उ. प्रतियोगित्यधिकरणत्वं प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वं अर्थात् प्रतियोगी के अधिकरण सिवाय अनधिकरण में रहने वाला अभाव ही व्यधिकरण प्रतियोगी

वाला अभाव है। ऐसा अभाव लेने से अव्याप्ति दूर होगी क्योंकि कपिसंयोग और 15
पू: ~~ऐसे अर्थ में तो पूर्ववत् ही अव्याप्ति होगी~~ कपिसंयोगाभाव एक ही अधिकरण में रहता है अतः कपिसंयोगाभाव सिवाय कोई ऐसा अभाव लेना पड़ेगा जो घर वृक्ष में हो अतः हमारा लक्षण समन्वय हो जाएगा।

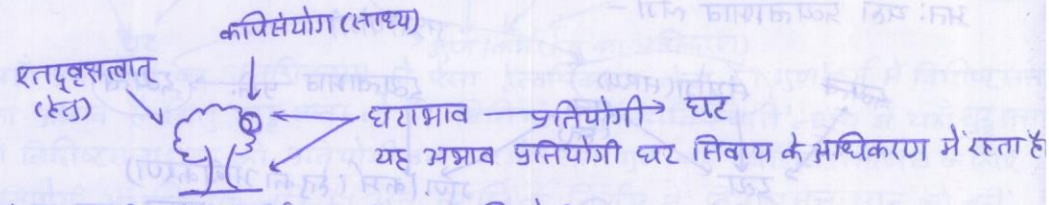

पू. ऐसा अर्थ करने पर पूर्ववत् ही अव्याप्ति होगी –

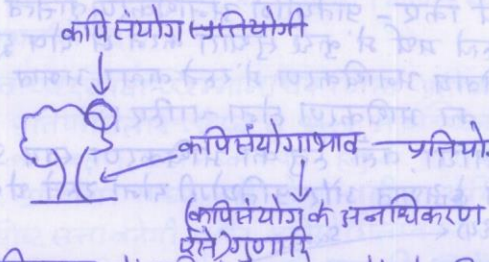

हेतु के अधिकरण में कपिसंयोगाभाव ले तो प्रतियोगी कपिसंयोग होगा। कपिसंयोग गुणादि में नहीं रहता है। अतः गुणादि उसके अनधिकरण है। प्रतियोगी कपिसंयोग के अनधिकरण गुणादि में रहा कपिसंयोगाभाव ही वृक्ष पर भी है। अतः लक्षण न घटने से अव्याप्ति।

३ प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वं ⇒ तो प्रतियोगी के अधिकरण में न रहने वाला अभाव लेने से लक्षण घट जाएगा।

पू. ऐसा अर्थ लेने पर 'संयोगी सत्त्वात्' अनुमान में अतिव्याप्ति होगी। यह अनुमान गलत होने पर भी वहाँ व्याप्ति का लक्षण चला जाएगा।
अनुमान कैसे गलत है? – उ. द्रव्य संयोगी है, सत्ता होने से। सत्ता (हेतु) तो गुण और कर्म में भी रहता है किंतु वहाँ साध्य नहीं रहता। ~~अतः यह अनुमान असत् है।~~

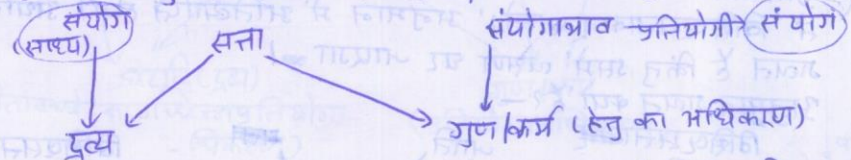

अतः हेतु के अधिकरण में रहे अभाव का अप्रतियोगी साध्य हो तो व्याप्ति घटती है किंतु यहाँ तो साध्य प्रतियोगी है अतः व्याप्ति नहीं है।
यदि अभाव का प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वं अर्थ करेंगे तो यहाँ गलत स्थल में भी लक्षण घटने से अतिव्याप्ति होगी। कैसे –

संयोगाभाव → द्रव्य

संयोग और संयोगाभाव दोनों द्रव्य में रहते हैं। अतः संयोगाभाव प्रतियोगी के अधिकरण में भी रहता है। अतः वह प्रतियोग्यधिकरणावृत्ति अभाव नहीं है। अतः व्याप्ति का निर्णय करते हुए इस अभाव को नहीं ले सकते, कोई दूसरा अभाव लेना पड़ेगा।

अतः यहाँ द्रव्यत्वाभाव लेंगे –

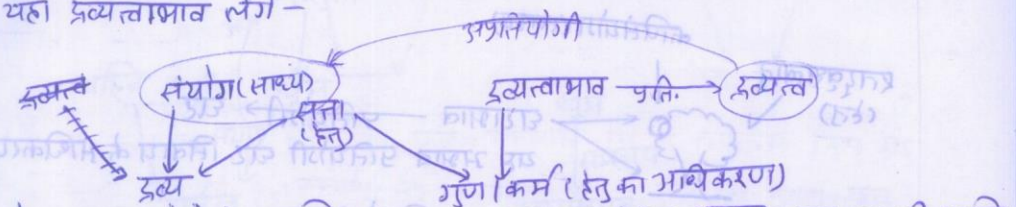

अतः ऐसा अभाव लेने से व्याप्ति का लक्षण घट गया। यह गलत जगह पर भी व्याप्ति का लक्षण घटने से अतिव्याप्ति होगी।

3. प्रतियोगीव्यधिकरण के 2 अर्थ किए – प्रतियोगि अनधिकरणवृत्तित्व और प्रतियोगि-अधिकरण अवृत्तित्व। यहाँ पहले अर्थ में कुछ सुधार करने से दोष दूर होगा। प्रतियोगी के अधिकरण सिवाय अनधिकरण में रहने वाला अभाव लेना किंतु वह अनधिकरण स्वयं ही हेतु का अधिकरण होना चाहिए।

पहले जो अव्याप्ति दोष बताया, वहाँ हेतु का अधिकरण स्वयं प्रतियोगी का अनधिकरण नहीं था, वहाँ अभाव और प्रतियोगी दोनों रहते थे। –

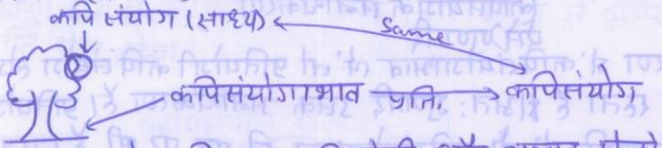

यहाँ ऐसा अभाव लेना जिसका प्रतियोगी और अभाव दोनों एक साथ हेतु के अधिकरण में न रहते हो, मात्र अभाव रहता हो।

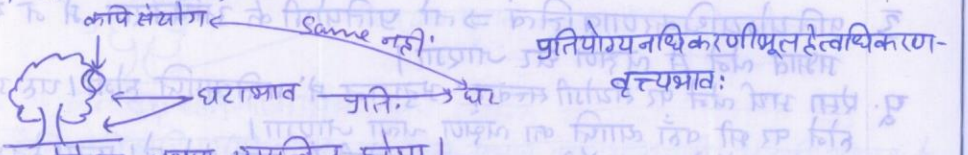

ऐसा अभाव लेने पर लक्षण समन्वित होगा।

☆ पू. प्रतियोगी का अनधिकरण, ऐसा हेतु का अधिकरण, इसमें रहने वाला अभाव लेने से 'विशिष्टसत्तावान् जातेः' अनुमान में अतिव्याप्ति होगी अर्थात् यह अनुमान गलत है किंतु इसमें लक्षण घट जाएगा।

अनुमान गलत क्यों है? –

हेतु के सभी अधिकरण में विशिष्ट सत्ता नहीं रहती। अतः व्याप्ति नहीं है।

यदि यहाँ प्रतियोग्यनधिकरणीभूत हेत्वधिकरण वृत्ति अभाव लेंगे तो लक्षण घट जाने से अतिव्याप्ति होगी। कैसे? –

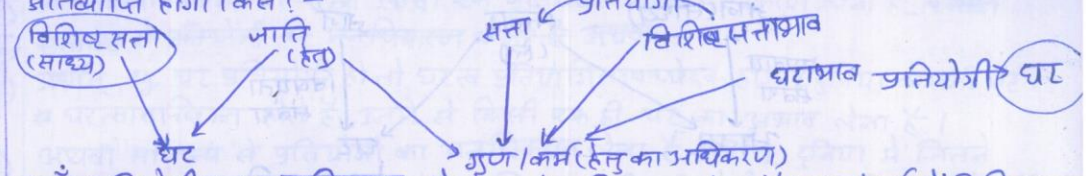

यहाँ प्रतियोगी का अनधिकरण हो ऐसा हेत्वधिकरण लेना है। गुण/कर्म में विशिष्टसत्ता का अभाव है किंतु शुद्ध सत्ता तो है। 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' न्याय से यहाँ शुद्ध सत्ता ही विशिष्टसत्ताऽभाव की प्रतियोगी बन जाएगी। अतः गुण/कर्म विशिष्टसत्ताभाव के लिए प्रतियोगी अनधिकरण नहीं है। अतः व्याप्ति के निर्णय में विशिष्टसत्ताभाव को नहीं ले सकते। अतः घटाभावादि लेकर उनके अप्रतियोगी ऐसे विशिष्टसत्ता रूप साध्य और हेतु जाति की व्याप्ति का निर्णय हो जाएगा। गलत स्थल में भी व्याप्ति का लक्षण घट जाने से अतिव्याप्ति हुई।

उ. प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं प्रतियोग्यनधिकरणत्वं ⇒ प्रतियोगी का अनधिकरण प्रतियोगितावच्छेदक से ~~अन~~ अवच्छिन्न लेने से अतिव्याप्ति दूर हो जाएगी यहाँ व्याप्ति का लक्षण घटाने के लिए हेतु के अधिकरण में साध्याभाव नहीं होना चाहिए। अतः प्रतियोगी साध्य नहीं होना चाहिए। यदि हमें विशिष्टसत्ताभाव लेना है तो प्रतियोगी विशिष्टसत्ता बनेगी और प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्टसत्तात्व बनेगा। विशिष्टसत्तात्वावच्छिन्न अधिकरण तो घटादि द्रव्य ही मिलेंगे, गुण/कर्म प्रतियोगी के अनधिकरण होंगे। तो प्रतियोगी के अनधिकरण ऐसा हेतु (जाति) का अधिकरण गुण/कर्म बनने से हमें विशिष्टसत्ताभाव ले सकते हैं। उसका प्रतियोगी विशिष्ट सत्ता ही साध्य होने से व्याप्ति नहीं होगी। अतिव्याप्ति दूर हुई।

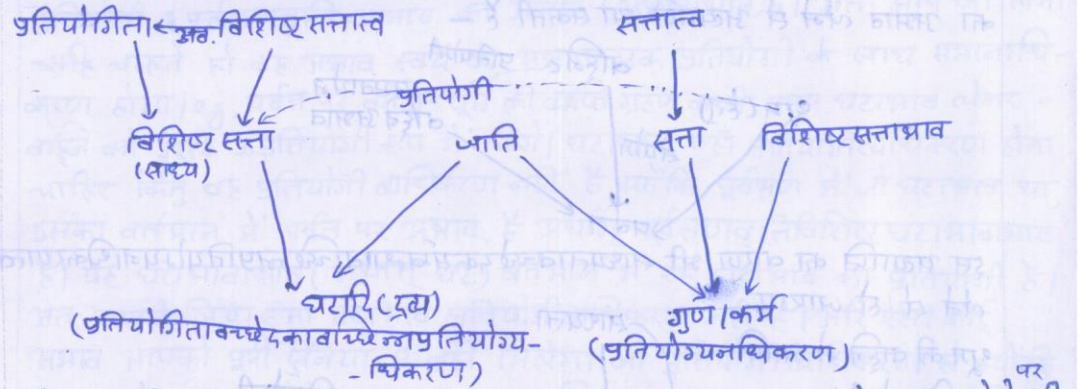

★पू. तो भी अतिव्याप्ति है – 'ज्ञानवान् आत्मा सत्त्वात्' इस अनुमान में गलत होने पर भी सत्ता (हेतु) के अधिकरण घटादि में विषयता संबंध से ज्ञान रहने से व्याप्ति का लक्षण घट जाएगा →
अनुमान गलत क्यों है? – जहाँ जहाँ सत्ता रहती है, वहाँ वहाँ ज्ञान न रहने से उनकी व्याप्ति नहीं है।

अतिव्याप्ति कैसे?—

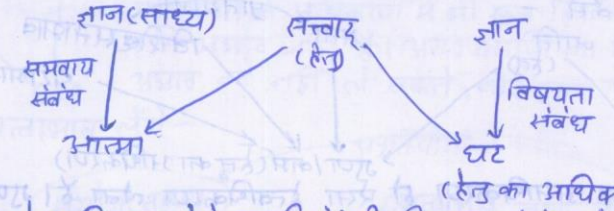

सत्ता रूप हेतु के अधिकरण ऐसे घटादि में भी विषयता संबंध से ज्ञान रहने से व्याप्ति का लक्षण घट गया।

उ. साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वं वाच्यं ⇒ अर्थात् प्रतियोगी का अनधिकरण जिस संबंध से साध्य सिद्ध करना चाहते हों, उस संबंध से देखना। उपर्युक्त अनुमान में साध्य (ज्ञान) समवाय से सिद्ध करना चाहते हैं और घट (हेतु के अधिकरण) में ज्ञान को विषयता संबंध से लिया है। अतः समवाय से ज्ञान घट में न होने से घट में ज्ञानाभाव होगा, ज्ञानाभाव का प्रतियोगी ज्ञान होगा, वही साध्य होने से व्याप्ति का लक्षण घटेगा।

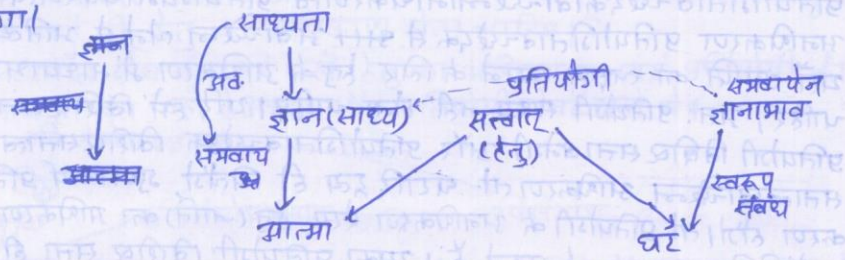

ऐसे ही 'वह्निमान् धूमात्' अनुमान में हेतु धूम के अधिकरण में समवाय से वह्नि का अभाव होने से अव्याप्ति आ सकती है—

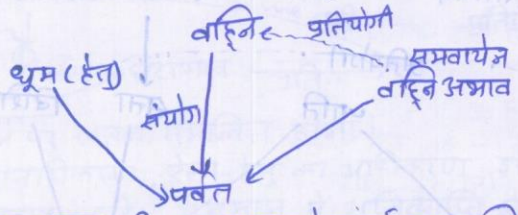

इस अव्याप्ति का वारण भी साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोग्यनधिकरणत्व लेने से हो जाएगा—
धूम की वह्नि से व्याप्ति सिद्ध होगी।

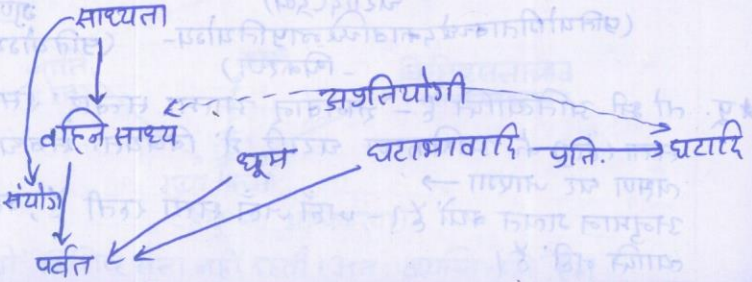

* पू. प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगी का अनधिकरण लेना है। अतः प्रतियो -

① प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न किसी एक प्रतियोगी का अनधिकरण लेना है ~~अथवा~~

② ~~सामान्य से प्रतियोगी का अनधिकरण लेना है अथवा~~

③ अर्थात् eg. घट प्रतियोगी हो तो घटत्व प्रतियोगितावच्छेदक होगा। दुनिया के सभी घट = घटत्वावच्छिन्न होते हैं उनमें से किसी एक ही घट का अभाव लेना है।

② अथवा सामान्य से प्रतियोगी का अनधिकरण लेना है अर्थात् दुनिया में जितने प्रतियोगितावच्छेदक हैं, उन सबसे अवच्छिन्न सभी प्रतियोगी का अनधिकरण लेना है।

③ किसी एक प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगी का अनधिकरण लेना है अर्थात् एक प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व, उससे अवच्छिन्न सभी घट का अनधिकरण लेना है।

① यदि पहला विकल्प लोगे तो पूर्ववत् अव्याप्ति होगी -

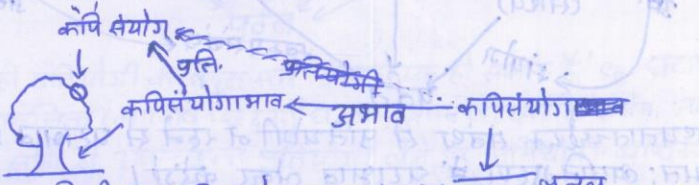

इस ~~प्रकार~~ प्रकार किसी एक कपिसंयोगाभाव को लेने से सही स्थल में भी व्याप्ति का लक्षण नहीं घटेगा।

② दूसरे विकल्प में तो प्रतियोगी व्यधिकरण अभाव पूरी दुनिया में कोई नहीं मिलेगा क्योंकि सभी अभाव पूर्वक्षण की वृत्तित्व से विशिष्ट ऐसे स्वयं के अभावात्मक प्रतियोगी के साथ समानाधिकरण में ही रहते हैं। अर्थात् वर्तमान में जो अभाव है, पूर्व के क्षण में रहे अभाव से वह भिन्न है। अतः पूर्वक्षण में रहे (वृत्ति) अभाव का वर्तमान में अभाव है। ~~अतः~~ और वर्तमान में रहे ~~इस~~ अभाव~~भाव~~ का प्रतियोगी § पूर्वक्षणवृत्ति-अभाव का अभाव (अभावाभाव) है। अतः आप जो लेना ~~नहीं~~ चाहते हो वह अभाव स्वयं के अभावात्मक प्रतियोगी के साथ समानाधिकरण होगा। eg. पर्वत पर वह्नि-धूम की व्याप्ति ग्रहण करने आप घटाभाव लेकर वह्नि को उसके अप्रतियोगी रूप में लोगे। घटाभाव यहाँ प्रतियोगी व्यधिकरण होना चाहिए किंतु वह प्रतियोगी व्यधिकरण नहीं है क्योंकि पूर्वक्षण में जो घटाभाव था, उसका वर्तमान में पर्वत पर अभाव है अर्थात् पूर्वक्षणवृत्तिविशिष्ट घटाभावाभाव है। यह घटाभावाभाव (अर्थात् घट) वर्तमान में रहे घटाभाव का प्रतियोगी है। अतः आपने लिया हुआ घटाभाव प्रतियोगी व्यधिकरण नहीं है। और ऐसा कोई अभाव आपको पूरी दुनिया में नहीं मिलेगा जो प्रतियोगी व्यधिकरण हो क्योंकि आप जो अभाव लोगे, उसका पूर्वक्षणवृत्ति अभाव का ~~अभाव~~ अभाव रूप प्रतियोगी वहाँ होगा ही, अतः आप व्याप्ति का निर्णय नहीं कर सकोगे।

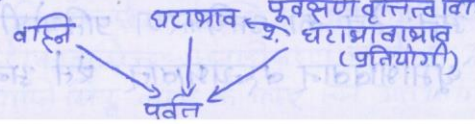

उ. उक्त रीति से घटाभावादि सभी प्रतियोगी-अधिकरण हैं किंतु साध्यतावच्छेदक संबंध से प्रतियोगी अनधिकरण होंगे। और प्रतियोगी अनधिकरण साध्यतावच्छेदक संबंध से कैसा है, यह तो पहले ही कह चुके हैं। यह पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट अभाव का अभाव साध्यतावच्छेदक संबंधावच्छिन्न नहीं होगा किंतु स्वरूप से होगा –

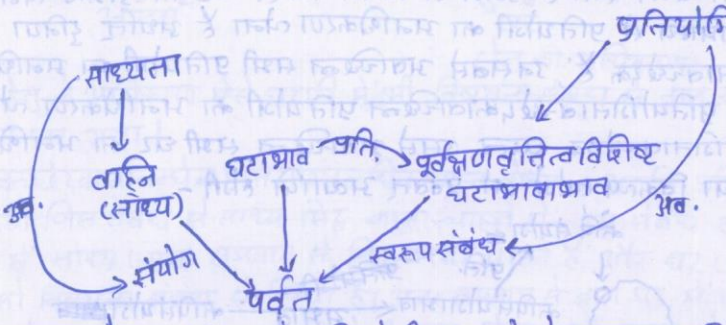

यहाँ साध्यतावच्छेदक संबंध से प्रतियोगी न रहने से घटाभाव प्रतियोगीव्यधिकरण होगा अतः व्याप्तिग्रहण में घटाभाव लेकर करेंगे।

पू. ऐसा भी आपको नहीं कहना चाहिए क्योंकि घटाभाव में वृत्ति वह्न्यभाव है घटाभावात्मक होने से घटाभाव का प्रतियोगी वह्नि बन जाने से ~~पर्वतादि अधिकरण~~ अभाव प्रतियोगी व्यधिकरण नहीं होंगे। अर्थात् पर्वत पर रहे घटाभाव में वह्नि नहीं रहती, अतः घटाभाव में वह्न्यभाव रहता है। अभाव हमेशा स्वरूप संबंध से रहने से स्वयं के अधिकरण का स्वरूप ही होता है। यहाँ वह्न्यभाव भी घटाभाव स्वरूप है अतः घटाभाव का प्रतियोगी वह्नि होगा। ~~साध्य वह्नि प्रतियोगी~~ वह्नि तो पर्वत पर संयोग संबंध से है ही। अतः घटाभाव प्रतियोगीव्यधिकरण नहीं है।

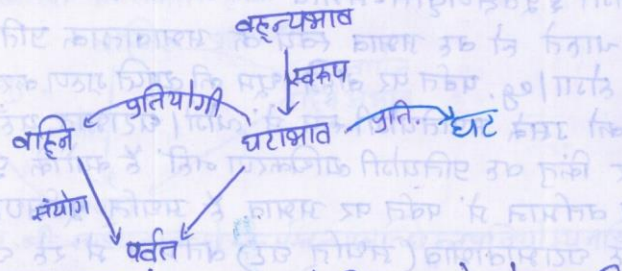

उ. घटाभावादि में रहे वह्न्यभाव को घटाभाव से भिन्न मानो तो आपत्ति नहीं है।

पू. तो भी अव्याप्ति होगी। जब स्वरूप संबंध ही साध्यतावच्छेदक संबंध होगा तब हेतु का अधिकरण सभी अभाव के स्वयं के अभावात्मक प्रतियोगी का अधिकरण होगा अर्थात् सभी अभाव के पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट अभावात्मक प्रतियोगी भी हेतु के अधिकरण में रहेंगे अतः हेतु का अधिकरण प्रतियोगी अधिकरण होगा, अनधिकरण नहीं। ex. 'धूमाभाववान् वह्न्यभावात्' ऐसे अनुमान में साध्यता-

वच्छेदक संबंध स्वरूप संबंध होगा। पहले आप साध्यतावच्छेदक संबंध से प्रतियोगी अनाधिकरण सिद्ध कर रहे थे किंतु ~~अब~~ यहाँ साध्यतावच्छेदक संबंध ही स्वरूप संबंध होने से प्रतियोगी अनाधिकरण नहीं होगी। अतः सही स्थल में भी व्याप्ति नहीं घटेगी

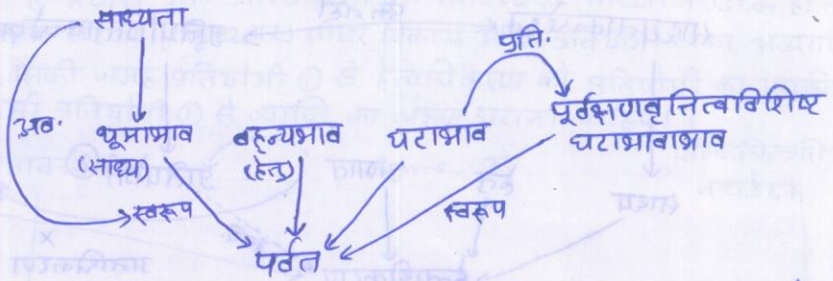

[अर्थात् एक ही प्रतियोगी के बहुत सारे अवच्छेदक हो सकते हैं' eg. घटाभाव के प्रतियोगी घर के पूर्वक्षणवृत्तित्व (कालावच्छेदक) घटत्व, देशावच्छेदकादि अनेक अवच्छेदक हो सकते हैं। उन सभी से अवच्छिन्न प्रतियोगी लेने पर प्रतियोगी-व्यधिकरण कोई अभाव नहीं मिलेगा।] अतः दूसरे विकल्प में भी आपत्ति होगी।

③ पू. तीसरा विकल्प - यत्किंचित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानाधिकरणत्वं अर्थात् एक ही प्रतियोगी के अनेक प्रतियोगितावच्छेदक होते हैं', उनमें से किसी एक प्रतियोगितावच्छेदक से अवच्छिन्न ~~अ~~ प्रतियोगी-व्यधिकरण अभाव लेने पर यह आपत्ति दूर होगी। eg. उपर्युक्त अनुमान में मात्र घटत्वावच्छिन्न घट का अभाव लेने से व्याप्ति का लक्षण घट जाएगा अतः अव्याप्ति दूर होगी।

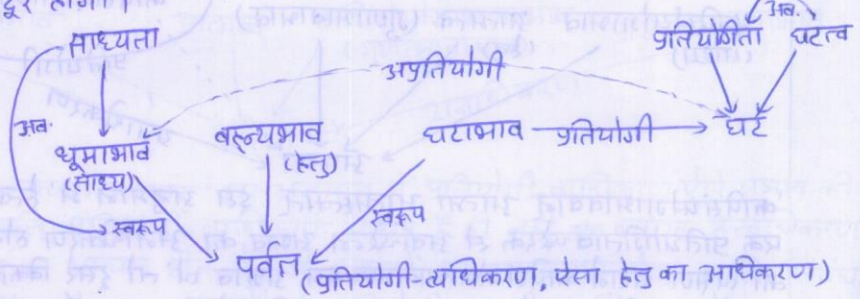

किंतु यहाँ इस विकल्प में भी 'कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्' अनुमान में अव्याप्ति स्थति यहाँ सही व्याप्ति होने पर भी लक्षण नहीं घटेगा। ⇒

अभी हमारा व्याप्ति का लक्षण ऐसा है -

हेतु के अधिकरण में रहे (प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगी का अनाधिकरण) अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक साध्यतावच्छेदक न हो, ऐसे साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न साध्य के साथ हेतु का समानाधिकरण में रहना व्याप्ति है। (fig 10, 19) इस लक्षण में हमने प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगी-अनाधिकरण का अर्थ यत्किंचित्-प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न-अनाधिकरण करेंगे तो अव्याप्ति कैसे होगी, वह हमें सिद्ध करना है। अव्याप्ति सिद्ध करने के लिए हम प्रतियोगितावच्छेदक और साध्यतावच्छेदक

एक ही है ऐसा सिद्ध करेंगे।

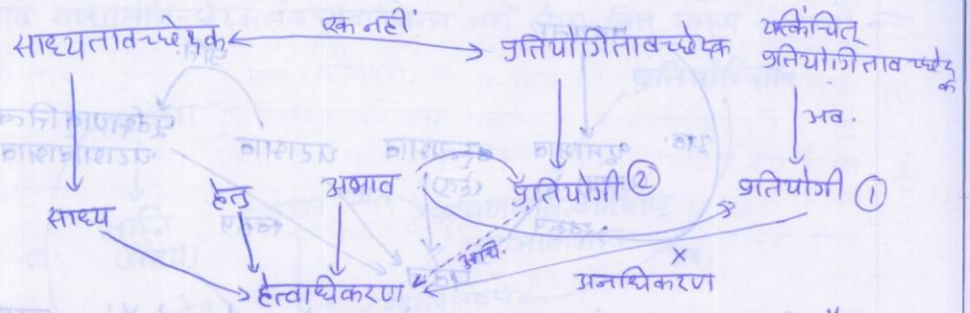

यहाँ दो बार प्रतियोगी और प्रतियोगितावच्छेदक है। पहले हमें ऐसा देखना है कि जो अभाव हम ले रहे हैं, उस अभाव का यत्किंचित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगी हेत्वधिकरण में नहीं रहना चाहिए। फिर उसी अभाव का दूसरे प्रतियोगी (जो हेत्वधिकरण में रहता है) का प्रतियोगितावच्छेदक ही साध्यतावच्छेदक होने से अव्याप्ति होगी। Eg.

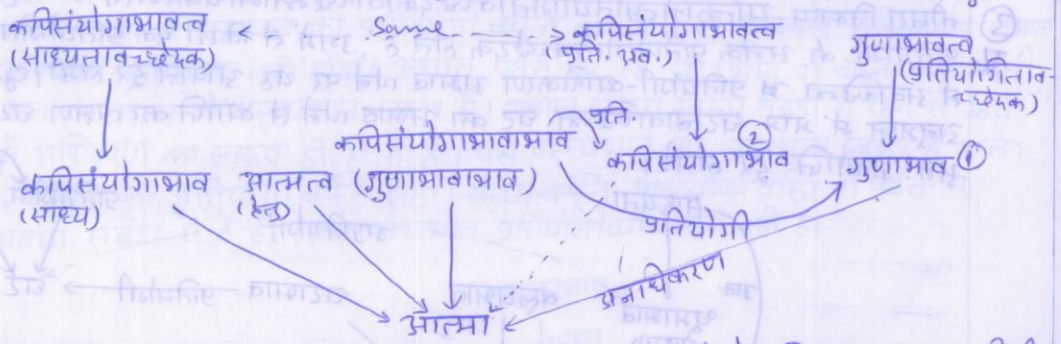

'कपिसंयोगाभाववान् आत्मा आत्मत्वात्' इस अनुमान में हेत्वधिकरण आत्मा किसी एक प्रतियोगितावच्छेदक से अवच्छिन्न अभाव का अनधिकरण होना चाहिए। ~~क्यों~~ व्याप्ति का लक्षण घटाने कपिसंयोगाभावाभाव रूप अभाव लें तो दूसरे विकल्प की तरह तो लक्षण बैठ जाएगा किंतु तीसरे लक्षण अनुसार → कपिसंयोग एक गुण है, अतः ~~इसे~~ कपिसंयोगाभावाभाव को गुणाभावाभाव रूप में लेकर उसके प्रतियोगी ① गुणाभाव को गुणाभावत्व प्रतियोगितावच्छेदक होगा। ऐसे एक प्रतियोगितावच्छेदक से अवच्छिन्न गुणाभाव आत्मा (हेत्वधिकरण) में नहीं रहता क्योंकि आत्मा में ज्ञानादि गुण रहते हैं। अतः आत्मा में प्रतियोगीव्यधिकरण ऐसा कपिसंयोगाभावाभाव है, यह सिद्ध हुआ। इस अभाव का प्रतियोगी कपिसंयोगाभाव है। अतः इस प्रतियोगी ② का प्रतियोगितावच्छेदक साध्य कपिसंयोगाभाव के साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगाभावत्व के समान है। अतः व्याप्ति का लक्षण नहीं घटा। सही स्थल में भी व्याप्ति न घटने से अव्याप्ति दोष हुआ।

[ऐसे पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत 3 विकल्पों का वर्णन पूर्ण हुआ (Pg. 19)। अब उत्तरपक्ष में तीसरे विकल्प का परिष्कार सहित स्वीकार करते हैं।]

3. यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणत्वं हेतुमतस्तादृशप्रतियोगितावच्छेदकस्य विवक्षितत्वात् ⇒ जैसे प्रतियोगितावच्छेदक से अवच्छिन्न ऐसे प्रतियोगी का अनधिकरण हेत्वधिकरण को बनाया है; वैसी ही प्रतियोगिता~~वच्छेदक~~ का अनवच्छेदक यहाँ विवक्षित है अर्थात् उसी प्रतियोगिता का अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक हो तो व्याप्ति का लक्षण घटेगा। [(Pg 22 पर) तीसरे विकल्प में 2 प्रतियोगी लेकर अव्याप्ति सिद्ध की है किंतु उसकी जगह प्रतियोगी ① से हेत्वधिकरण को प्रतियोगी का अनधिकरण बनाया तो उसी प्रतियोगी ① से व्याप्ति का लक्षण घटाना चाहिए।]

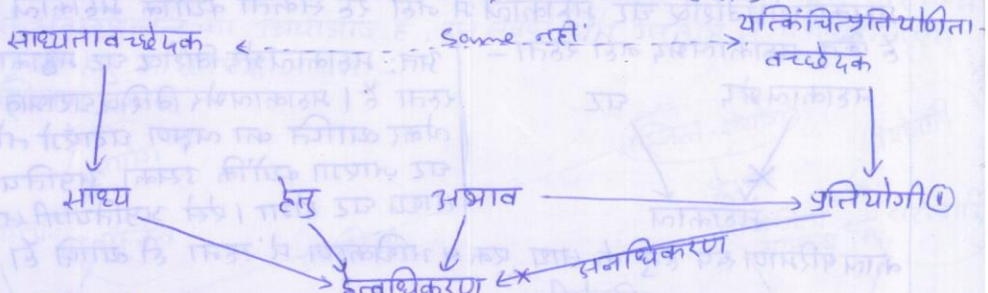

ऐसे ही 'कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्' अनुमान में भी व्याप्ति घट जाएगी –

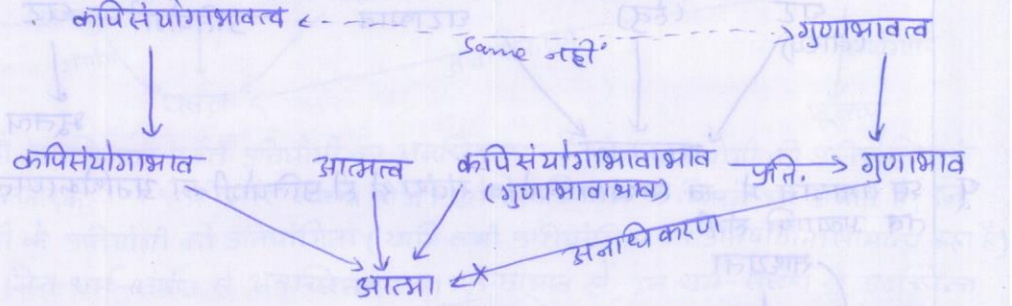

★ पू. 'कालः घटवान् कालपरिमाणात्' इस अनुमान में प्रतियोगी-व्यधिकरण ऐसे अभाव की असिद्धि है अर्थात् प्रतियोगी-व्यधिकरण अभाव है ही नहीं ~~नहीं~~ क्योंकि हेत्वधिकरण महाकाल जगत् का आधार होने से सभी अभावों का साध्यतावच्छेदक कालिक संबंध से अधिकरण है और उन अभावों के प्रतियोगी का भी अधिकरण है –

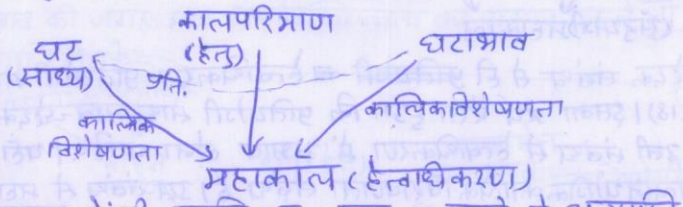

ऐसे सही अनुमान में भी व्याप्ति का लक्षण न घटने से अव्याप्ति होगी।

→ इसका कुछ विद्वान् ऐसा समाधान देते हैं → भूतत्व पर घट ~~रह~~ है, भूतत्व में महाकालभेद भी है क्योंकि भूतत्व और महाकाल में परस्पर अन्योन्याभाव है। अतः भूतल पर रहा घट महाकालभेद से विशिष्ट है, समानाधिकरण संबंध से →

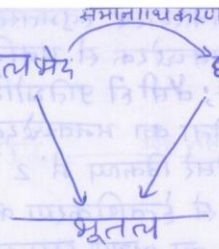

महाकालभेदविशिष्ट घट महाकाल में नहीं रह सकता क्योंकि महाकाल में घट रहता है किंतु महाकालभेद नहीं रहता –

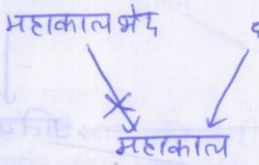

अतः महाकालभेद विशिष्ट घट महाकाल में नहीं रहता है। महाकालभेद विशिष्टघटाभाव महाकाल में लेकर व्याप्ति का लक्षण घटाएँगे तो लक्षण घट जाएगा क्योंकि उसका अप्रतियोगी हमारा साध्य घट होगा। ऐसे अप्रतियोगी साध्य घट का कालपरिमाण रूप हेतु के साथ एक ~~स~~ अधिकरण में रहना ही व्याप्ति है।

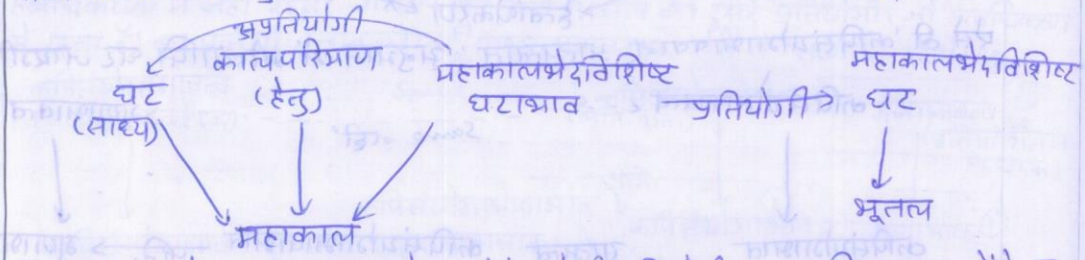

पू. इस समाधान में जब साध्यतावच्छेदक संबंध से ही प्रतियोगी का अनधिकरणत्व लेंगे तब तब अव्याप्ति होगी –

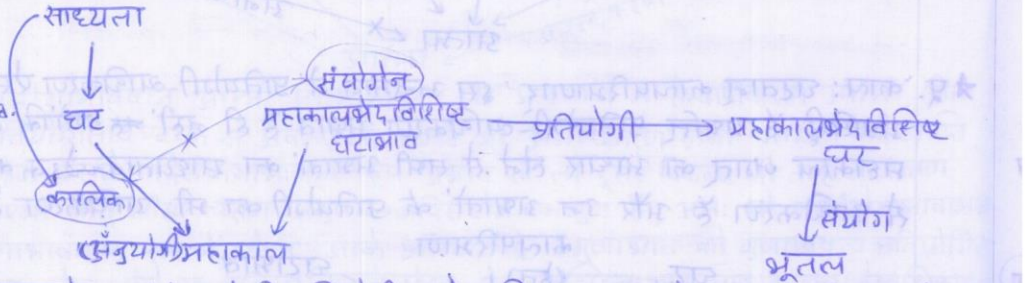

साध्यतावच्छेदक संबंध से ही ~~प्रतियोगी~~ का हेत्वधिकरण प्रतियोगी का अनधिकरण होना चाहिए (पृ.18)। इसका अर्थ ऐसा हुआ कि प्रतियोगी साध्यतावच्छेदक से कहीं और रहता हो, उसका उसी संबंध से हेत्वधिकरण में अभाव होना चाहिए। यहाँ साध्यतावच्छेदक संबंध महाकालानुयोगिक कालिक विशेषणता संबंध है। इस संबंध से महाकालभेद विशिष्ट घट का अधिकरण ही अप्रसिद्ध होगा क्योंकि महाकालानुयोगिक संबंध होने से अधिकरण महाकाल ही लेना पड़े किंतु ऐसा घट महाकाल में नहीं रहेगा (क्योंकि महाकालभेद महाकाल में नहीं रहता)। अतः महाकालभेद विशिष्ट घट का अधिकरण इस संबंध से

कोई नहीं है। इससे उसका अनधिकरण भी अप्रसिद्ध होगा क्योंकि प्रतियोगी अप्रसिद्ध होने से अभाव भी अप्रसिद्ध होगा। अतः ऐसा अभाव न होने से सही स्थल में भी व्याप्ति का लक्षण नहीं घटेगा। इससे अव्याप्ति दोष होगा।

उ. प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वयद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभावस्तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतुव्यापकत्वं बोध्यं। ⇒ प्रतियोगितावच्छेदक संबंध से प्रतियोगी के अनधिकरण रूप हेत्वधिकरण में रहे अभाव की प्रतियोगितासामान्य में जिस संबंध और जिस धर्म से अवच्छिन्नत्व का उभयाभाव है, उस संबंध और उस धर्म से अवच्छिन्न (ऐसे साध्य) को हेतु का व्यापक जानना —

eg. 'वह्निमान् धूमात्' →

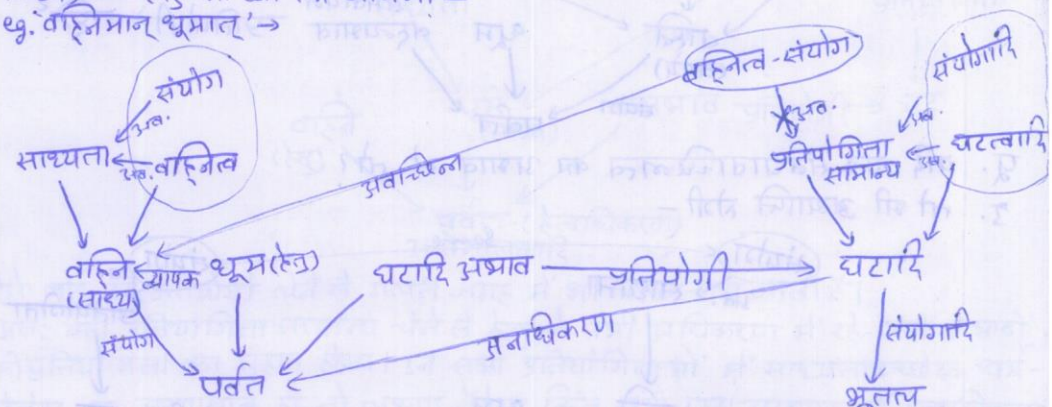

यहाँ हेत्वधिकरण पर्वत प्रतियोगी का अनधिकरण है। ऐसे प्रतियोगी की प्रतियोगिता के अवच्छेदक 1-1 धर्म और संबंध होंगे। ऐसे हेत्वधिकरण में जितने भी अभाव हैं, उन सभी के प्रतियोगी की प्रतियोगिता (यानि सभी प्रतियोगिता को प्रतियोगितासामान्य कहा है) में जिन धर्म-संबंध से अवच्छिन्नत्व का उभयाभाव हो, उन धर्म-संबंध से अवच्छिन्न जो हो उसका हेतु का व्यापक जानना अर्थात सभी प्रतियोगिता जिन धर्म-संबंध से एकसाथ अवच्छिन्न न हो, ऐसे धर्म-संबंध से अवच्छिन्न वस्तु के साथ हेतु की व्याप्ति होती है। अतः वह धर्म ही साध्यतावच्छेदक धर्म और वह संबंध ही साध्यतावच्छेदक संबंध होगा।

पू. यहाँ उभयाभाव की जगह मात्र धर्मविच्छिन्नत्व का अभाव कहते तो?

उ. तो भी अव्याप्ति होती —

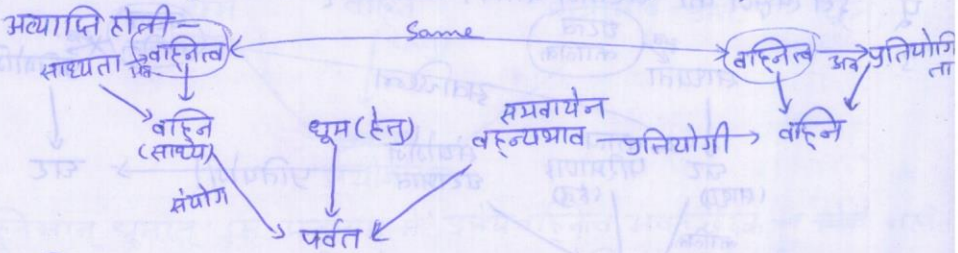

मात्र धर्मविच्छिन्नत्व लें तो पर्वत में समवाय से वह्न्यभाव होने से उसके प्रतियोगी

वह्नि का प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्व ही साध्यतावच्छेदक होने सही स्थल में भी व्याप्ति का लक्षण न घटने से अव्याप्ति दोष होगा। किंतु उभयाभाव लेने से लक्षण घट जाएगा क्योंकि साध्यतावच्छेदक वह्नित्व + संयोग है जबकि प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्व + समवाय है। अतः दोनों के अलग होने से लक्षण घट जाएगा –

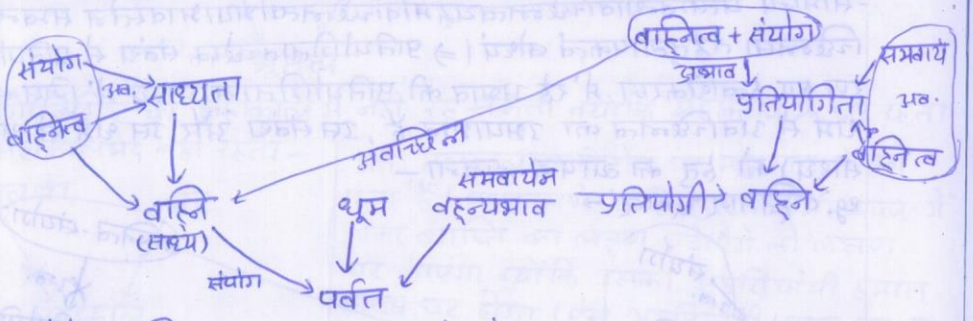

पू. यदि मात्र संबंधावच्छिन्नत्व का अभाव लें तो?

उ. तो भी अव्याप्ति होगी –

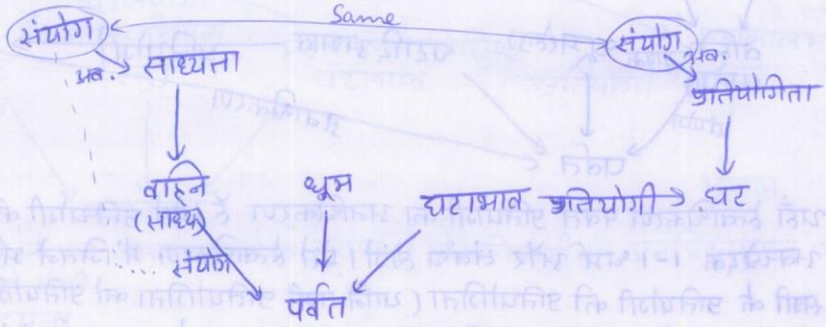

मात्र संबंधावच्छिन्नत्व लें तो पर्वत में रहे घराभाव का प्रतियोगितावच्छेदक संयोग संबंध ही साध्यतावच्छेदक होने से सही स्थल में भी लक्षण न घटने से अव्याप्ति होगी।

अतः यहाँ उभयाभाव लेने से Pg. 28 पर बताए अनुसार अव्याप्ति नहीं होगी अतः उभय का अभाव लक्षण में लिया है।

पू. इस लक्षण का 'घटवान् कालः ~~आत्मत्वात्~~ कालपरिमाणात्' में समन्वय कैसे होगा?

उ.

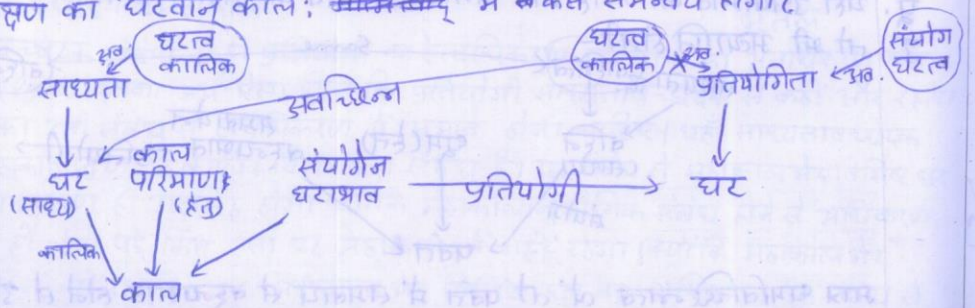

इस अनुमान में हेत्वधिकरण महाकाल में संयोग से घराभाव का प्रतियोगी घट की प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदक घटत्व+कालिक का उभयाभाव होने से व्याप्ति का लक्षण घट जाएगा।

पू. लक्षण में 'सामान्य' पद क्यों लिया? (Pg. 25 पर)

उ. 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि गत्यत जगह पर भी लक्षण घटने से अतिव्याप्ति न हो इसलिए सामान्य पद लिखा है।

अतिव्याप्ति कैसे? —

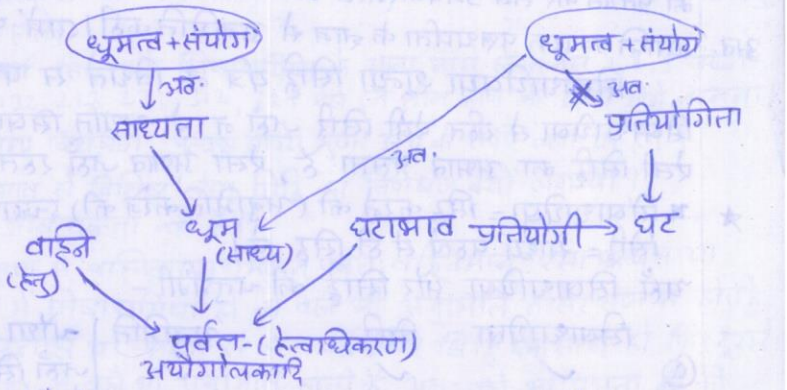

ऐसे कोई एक प्रतियोगी लेने से गत्यत जगह में भी लक्षण चला जाता है।

अतः यहाँ प्रतियोगिता सामान्य लेने से हेतु के सभी अधिकरण में रहे सभी अभावों की प्रतियोगिता का ग्रहण होगा। इन सभी प्रतियोगिताओं में साध्यतावच्छेदक धर्म-संबंध का उभयाभाव हो तो लक्षण घटेगा किंतु यहाँ इस उदाहरण में हेत्वधिकरण अयोगोलक में साध्य धूम का अभाव होने से उसकी प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदक का उभयाभाव नहीं रहने से व्याप्ति का लक्षण यहाँ नहीं घटेगा (अतिव्याप्ति नहीं होगी —

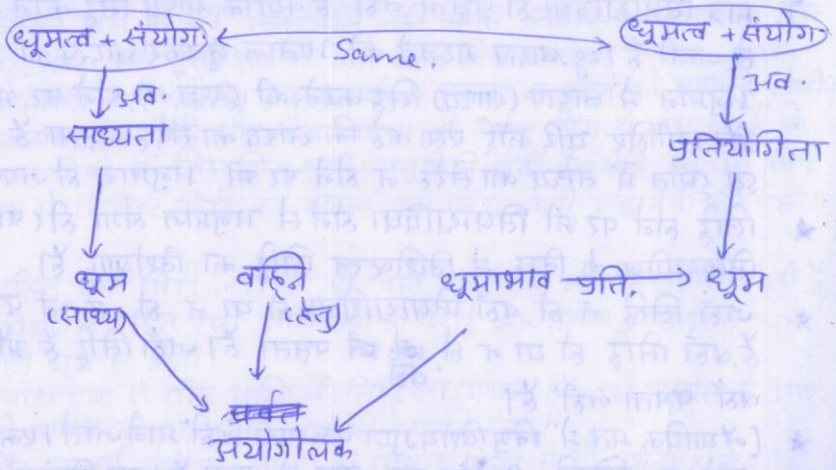

* पू. 'प्रमेयवह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में 'प्रमेय वह्नित्व अवच्छेदक ~~न सत्व~~ नहीं है क्योंकि वह्नि धर्म अवच्छेदक नहीं होता। अतः अव्याप्ति दोष होगा॥ —

[वस्तु का अन्यूनानतिरिक्तधर्म अवच्छेदक होता है ~~अर्थात्~~ ex. घट में घटत्व सभी जगह रहता है अतः

वह अवच्छेदक होगा। एक ही वस्तु के दो अलग-अलग नाम से अवच्छेदक नहीं होते e.g. घट और कम्बुग्रीवादिमान् में से कम्बुग्रीवादिमत्त्व गुरु धर्म होने वह अवच्छेदक नहीं होगा।) ऐसे ही वह्नि और प्रमेयवह्नि एक ही है, अतः वह्नित्व धर्म ही अवच्छेदक होगा, प्रमेयवह्नित्व नहीं।

उ. ऐसा नहीं है। कोई व्यक्ति घट की घट रूप में प्रतीति न करे और कम्बुग्रीवादिमान् रूप में प्रतीति करे तब कम्बुग्रीवादिमत्त्व भी अवच्छेदक स्वीकारा जाता है। ऐसे ही कोई प्रमेयवह्नि की प्रतीति करे तब प्रमेयवह्नित्व भी अवच्छेदक माना जाएगा।

अव. व्याप्ति प्रकारक पक्षधर्मता के ज्ञान से अनुमिति कही। इसमें पक्ष क्या है? –

सिषाधयिषया शून्या सिद्धि र्यत्र न विद्यते स पक्षः (का.70)

सिषाधयिषा से रहित ऐसी सिद्धि जहाँ न हो अर्थात् सिषाधयिषा के अभाव से विशेष्य ऐसी सिद्धि का अभाव पक्षता है, ऐसा अभाव जहाँ रहता है वह पक्ष है।

★ सिषाधयिषा = सिद्ध करने की (अनुमिति करने की) इच्छा।
सिद्धि = साध्य पहले से ही सिद्ध हो।

यहाँ सिषाधयिषा और सिद्धि की चतुर्भंगी –

	सिषाधयिषा	सिद्धि	अनुमिति
ⓐ	✓	✓	✓
ⓑ	×	×	✓
ⓒ	✓	×	✓
ⓓ	×	✓	×

चौथा भांगा ही कारिका में लिखा है। जहाँ सिषाधयिषा न हो और सिद्धि हो ऐसी जगह अनुमिति न होने से वह पक्ष नहीं है। अर्थापत्ति से ऐसा अर्थ होगा कि चौथे भांगे सिवाय तीनों जगह अनुमिति होने से वह पक्ष होता है।

★ पू. मात्र सिषाधयिषा ही पक्षता है क्योंकि जहाँ साध्य सिद्ध करने की इच्छा होती है, वहीं अनुमिति होती है।

उ. मात्र सिषाधयिषा ही पक्षता नहीं है क्योंकि साध्य सिद्ध करने की इच्छा बिना भी सिद्धि हो जाती है। e.g. बादल गरजने की आवाज सुनकर बादल का अनुमान होना, इस अनुमान में बादल (साध्य) सिद्ध करने की इच्छा न होने पर भी अनुमान हो जाता है। और इसीलिए यदि कोई ऐसा कहे कि साध्य का संदेह पक्षता है तो वह भी गलत है क्योंकि इस दृष्टांत में साध्य का संदेह न होने पर भी अनुमान हो जाता है।

★ सिद्धि होने पर भी सिषाधयिषा होने से अनुमान होगा ही (पहला भांगा)। इसीलिए सिषाधयिषा के विरह से विशिष्टत्व सिद्धि का विशेषण है।

★ जहाँ सिद्धि न हो, वहाँ सिषाधयिषा हो या न हो तो भी पक्षता है। जहाँ सिषाधयिषा है, वहाँ सिद्धि हो या न हो, तो भी पक्षता है। जहाँ सिद्धि है और सिषाधयिषा नहीं है वहाँ पक्षता नहीं है।

★ [नैयायिक मत में विभु विशेष गुण एक साथ नहीं माने जाते। एक क्षण में उत्पन्न होते हैं, दूसरे क्षण स्थिति, तीसरे क्षण नाश हो जाता है। इस सिद्धांत से पूर्वपक्ष शंका करता है।]

पू. ① जहाँ परामर्श → सिद्धि → सिषाधयिषा क्रम होगा, वहाँ सिषाधयिषा के काल में परामर्श न होने से अनुमान नहीं होगा।

(2) सिद्धि → परामर्श → सिषाधयिषा इस क्रम में सिषाधयिषा के काल में सिद्धि का आश्रय होने से प्रतिबंधक (सिद्धि अनुमिति की प्रतिबंधक है, सिषाधयिषा उत्तेजक है) का अभाव होने से अनुमिति होगी।

(3) सिषाधयिषा → सिद्धि → परामर्श क्रम में परामर्शकाल में सिषाधयिषा ही नहीं है (अतः अनुमिति नहीं होती।)

ऐसे ही अन्यत्र भी सिद्धिकाल में और परामर्शकाल में सिषाधयिषा नहीं है क्योंकि योग्य विशु- विशेषगुण युगपद् नहीं होते।

[यहाँ अन्यत्र यानि परामर्श, सिद्धि और सिषाधयिषा के अन्य भांगे होंगे। जैसे 1, 2, 3 संख्या के 6 भांगे होते हैं - 123, 132, 213, 231, 312, 321 ऐसे इन तीन ज्ञान के अन्य भांगे जानना। विभु के विशेषगुण में योग्य विशेषण 'प्रत्यक्ष योग्य गुण' अर्थ के लिए लगाया है।]

अतः 'सिषाधयिषा के अभाव से विशिष्ट' ऐसा सिद्धि का विशेषण क्यों लगाया?

[अर्थात् इस विशेषण की आवश्यकता नहीं है।

उ. ऐसा नहीं है क्योंकि एक क्षण में 'वह्नित्याप्यधूमवान् पर्वतः वह्निमान्' ऐसा प्रत्यक्ष या स्मरण हो, दूसरे ही क्षण में सिषाधयिषा हो तो वहाँ भी अनुमिति तीसरे क्षण में होती है। अर्थात् पहले क्षण प्रत्यक्ष या स्मरण से परामर्श और सिद्धि एक साथ हो फिर दूसरे ही क्षण में सिषाधयिषा हो तो वहाँ भी अनुमिति होती है अतः वहाँ भी पक्षता को सिद्ध करने के लिए सिद्धि का 'सिषाधयिषा के अभाव से विशिष्ट' विशेषण आवश्यक है। यदि यह विशेषण नहीं लगाते तो सिद्धि होने पर सिषाधयिषा से अनुमिति न होने की आपत्ति होगी। अतः विशेषण लगाया है।

[Short में, Pg. 28 पर बताई चतुर्भंगी में से (b) (c) भांगे तो स्वतः सिद्ध हैं, (a) भांगे को सिद्ध करने यह विशेषण लगाया है।]

पू. ~~पहले क्षण में 'वह्नित्याप्यधूमवान् पर्वतः वह्निमान्' ऐसा ज्ञान होने पर दूसरे क्षण में आत्मा की सिषाधयिषा होने पर भी अनुमिति नहीं होती अर्थात् पहले क्षण में होने वाला (परामर्श + सिद्धि) ज्ञान और दूसरे क्षण में होने वाली सिषाधयिषा अलग-अलग विषयक से तो अनुमिति नहीं होती। अतः (a) भांगे में पक्षता न होने की आपत्ति होगी।~~

[पक्षता का लक्षण बनाकर अब सिद्धि और सिषाधयिषा को ~~पक्षता~~ लिंग से बांध रहे हैं कि जिस सिद्धि और सिषाधयिषा में जिस लिंग वाली अनुमिति होती है, ~~ऐसी~~ उन-उन ~~सिद्धि~~ सिषाधयिषा के विरह से विशिष्ट सिद्धि का अभाव उसी लिंग वाली अनुमिति की पक्षता है।]

पू. सिषाधयिषा से रहित ऐसी सिद्धि जहाँ न हो, वहाँ पक्षता है अतः अनुमिति होती है। अग्नि की सिषाधयिषा से रहित ऐसी अग्नि की ही सिद्धि का अभाव पक्षता है, वहाँ अग्नि की अनुमिति धूम से होगी।

(a) जहाँ अग्नि की सिषाधयिषा से रहित अग्नि की सिद्धि का अभाव हो, वहाँ पक्षता है अतः वहाँ आलोक से भी वह्नि की अनुमिति होने की आपत्ति होगी।

(b) अग्नि की सिद्धि और परामर्श होने पर आत्मा की सिषाधयिषा से भी पक्षता होने की आपत्ति होगी।

उ. यादृशयादृशसिषाधयिषासत्त्वे सिद्धिसत्त्वे यल्लिंगकानुमितिः, तादृशतादृशसिषाधयिषा-

विरहातिरिक्तसिद्ध्यभावस्तत्त्वगानुमिता पक्षता ⇒ जिस सिषाधयिषा और जिस सिद्धि के होने पर जिस लिंग से अनुमिति होती है, उस-उस सिषाधयिषा के विरह से विशिष्ट ऐसी सिद्धि का अभाव उसी लिंग से होने वाली अनुमिति में पक्षता है। eg. अग्नि की सिषाधयिषा और अग्नि की ही सिद्धि होने पर धूम से अग्नि की अनुमिति होती है अतः अग्नि की सिषाधयिषा के विरह से विशिष्ट ऐसी अग्नि की सिद्धि का अभाव धूम से होने वाली अग्नि की अनुमिति में पक्षता है अर्थात् अग्नि की सिषाधयिषा और अग्नि की सिद्धि की चतुर्भंगी में प्रथम 3 भांगे (Pg. 28) में धूम (लिंग) से अनुमिति होगी।

(b) सिद्धि और परामर्श अग्नि का होने पर आत्मा की सिषाधयिषा से पक्षता होने की आपत्ति नहीं होगी क्योंकि सिद्धि और सिषाधयिषा एक विषय वाली होने पर ही पक्षता होती है। अतः सिद्धि और परामर्श होने पर भी 'मुझे यत्किंचित् ज्ञान हो या आत्मा का ज्ञान हो' ऐसी सिषाधयिषा से अनुमिति नहीं होती।
किंतु किसी को ऐसी इच्छा हो कि 'अग्नि का प्रत्यक्ष से अतिरिक्त ज्ञान हो' तब अनुमिति होती है।

(c) अग्नि की सिषाधयिषा और सिद्धि होने पर भी आलोक से वह्नि की अनुमिति होने की आपत्ति नहीं होगी क्योंकि जिस सिद्धि-परामर्श से जिस लिंग वाली अनुमिति होती है, उस सिद्धि-परामर्श से उसी लिंग वाली अनुमिति होती है। अतः धूम का परामर्श होने पर आलोक से वह्नि की सिषाधयिषा होने पर भी अनुमिति नहीं होगी।

★ [सिद्धि कब अनुमिति की प्रतिबंधक बनती है —]

पू. सिषाधयिषा से रहित सिद्धि अनुमिति की प्रतिबंधक है किंतु सिद्धि और अनुमिति अत्यंत-अत्यंत होने पर वह सिद्धि प्रतिबंधक है या नहीं? eg. 'पर्वतः तेजस्वी, पाषाणमयो वह्निमान्' ऐसी सिद्धि होने पर 'पर्वतो वह्निमान्' अनुमिति होगी या नहीं?

उ. सिषाधयिषाविरहकाले यादृशसिद्धिसत्त्वे नानुमितिस्तादृशी सिद्धि र्विशिष्यैव तत्तदनुमितौ प्रतिबन्धिका ⇒ सिषाधयिषा न होने पर जैसी सिद्धि से अनुमिति नहीं होती, वैसी सिद्धि विशेष्य ही (अर्थात् 'सिषाधयिषा के विरह' रूप विशेषण की विशिष्य होने पर ही, उस विशेषण से विशिष्ट होने पर ही) उस-उस अनुमिति में प्रतिबंधक है।
ऐसा होने से 'पर्वतस्तेजस्वी, पाषाणमयो वह्निमान्' ऐसा ज्ञान होने पर भी 'पर्वतो वह्निमान्' रूप अनुमिति होने में विरोध नहीं है।

पू. 'पर्वतः तेजस्वी, पाषाणमयो वह्निमान्' ज्ञान होने से पर्वत पर वह्नि है, ऐसा ज्ञान हो ही जाता है, अतः सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्धि होने पर अनुमिति नहीं होगी।

उ. 'पर्वतः तेजस्वी' में 'वह्नित्वावच्छिन्न प्रकारता नहीं है और 'पाषाणमयो वह्निमान्' में पर्वतत्वावच्छिन्न विशेष्यता नहीं है। अथवा इन दोनों ज्ञान में क्रमशः विशेषणतावच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदक अलग है। अतः ये ज्ञान होने पर भी 'पर्वतो वह्निमान्' रूप सिद्धि न होने से पक्षता है। ऐसी पक्षता होने से अनुमिति होती है।
[अनुमिति 2 से होती है - ① पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन ⇒ eg. पक्ष पर्वत हो तो पक्षतावच्छेदक पर्वतत्व होगा। पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमिति सभी पर्वत, जहाँ पर्वतत्व है, वहाँ सभी जगह होगी।
② पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन ⇒ किसी एक पर्वत पर अनुमिति।]

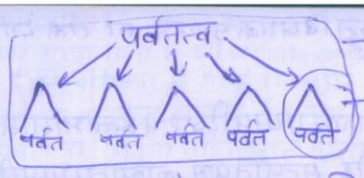

पू. किसी को पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्य की सिद्धि हो तो पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमिति होगी या नहीं?

उ. पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्य की सिद्धि होने पर भी पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन (तदवच्छेदेन) अनुमिति होने से पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमिति प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन ही साध्य की सिद्धि ही प्रतिबंधक होगी अर्थात् एक पर्वत में वह्नि की सिद्धि होने पर भी सभी पर्वत में अनुमिति हो सकती है। अतः सभी पर्वत में अनुमिति की प्रतिबंधक सभी पर्वत में ही वह्नि की सिद्धि है, एक पर्वत में नहीं।
किंतु पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन अनुमिति के प्रति कोई भी सिद्धि विरोधी है अर्थात् एक पर्वत में होने वाली अनुमिति की प्रतिबंधक कोई भी सिद्धि हो सकती है।
[जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमिति, दोनों हो सकते हो, वहाँ क्या होगा? –]

★ पू. अंधेरे में 'अयं पुरुषो नवा' पुरुष है या नहीं, ऐसा किसी को संशय हो, फिर 'यह पुरुषत्व के व्याप्य हाथ वि. वाला है' ऐसा परामर्श हो। यहाँ इसे पुरुष का प्रत्यक्ष भी हो सकता है और अनुमिति भी। दोनों में से कौन सा ज्ञान होगा?

उ. किसी को 'पुरुषो नवा' ऐसे संशय के बाद 'पुरुषत्वव्याप्यकरादिमान् अयं' ऐसा ज्ञान हो फिर इसे अनुमित्सा न हो तो पुरुष का प्रत्यक्ष ज्ञान होगा, अनुमिति नहीं।

पू. उसे सिद्धि भी नहीं है, सिषाधयिषा (अनुमित्सा) भी नहीं है ~~वहाँ~~ अतः वहाँ पक्षता है ही। अतः अनुमिति नहीं किंतु प्रत्यक्ष ज्ञान ही क्यों होगा?

उ. अनुमित्साविरहविशिष्टसमानविषयकप्रत्यक्षसामग्री कामिनीजिज्ञासादिवत् स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धिका ⇒ जब समान विषयक प्रत्यक्ष और अनुमिति हो सकते हों, वहाँ अनुमित्सा न हो तब अनुमित्सा के विरह से विशिष्ट ऐसी प्रत्यक्षसामग्री कामिनीजिज्ञासा वि. की तरह स्वतंत्रता से प्रतिबंधक है अर्थात् वह प्रत्यक्षसामग्री अनुमिति को रोक देती है।
कामिनीजिज्ञासादिवत् – जब कामिनी स्त्री की जिज्ञासा किसी पुरुष को होती है, तब उसे अन्य कोई ज्ञान नहीं होता, अतः यह जिज्ञासा जैसे अन्य ज्ञानों की प्रतिबंधक है, वैसे प्रत्यक्षसामग्री अनुमिति की प्रतिबंधक है।
स्वातन्त्र्येण – पहले सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धि को अनुमिति का प्रतिबंधक बताया था। वह पक्षता वि. में ही प्रतिबंधक है। यह प्रत्यक्षसामग्री पक्षता वि. के लक्षण से अलग स्वतंत्र प्रतिबंधक है। के लक्षण में बताए प्रतिबंधक

[समान विषयक प्रत्यक्ष और अनुमिति की बात हुई। अब भिन्न विषयक प्रत्यक्ष और अनुमिति-]

पू. कोई 'पर्वतो वह्निमान्' अनुमान कर रहा है। इसे 'वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वतः' ऐसा परामर्श ज्ञान हुआ। इस परामर्श के बाद उसे पर्वतादि का प्रत्यक्ष ज्ञान भी हो सकता है और 'पर्वतो वह्निमान्' अनुमिति भी हो सकती है?

उ. ऐसे परामर्श के बाद यदि उसे प्रत्यक्ष की इच्छा है तो प्रत्यक्ष ज्ञान होगा। यदि प्रत्यक्ष की इच्छा नहीं है तो प्रत्यक्षेच्छाविरह से विशिष्ट ऐसी अनुमितिसामग्री भिन्न विषयक प्रत्यक्ष

में प्रतिबंधक होगी। अर्थात् अनुमिति सामग्री (भ्रम्न विषयक प्रत्यक्ष को रोक देगी, फलतः अनुमिति होगी।

अब. हेत्वाभास —

अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः। कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तु पञ्चधा (का.71)

हेत्वाभास 5 प्र. के हैं - अनैकान्तिक, विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्ष, कालात्ययापदिष्ट (बाधित)

★ हेत्वाभास का लक्षण - यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं हेत्वाभासत्वम् ⇒ जिस विषय वाला होने से ज्ञान अनुमिति का विरोधी होता है, वह (विषय) हेत्वाभास है। e.g. व्यभिचारादि विषय वाला होने से ज्ञान अनुमिति का विरोधी होता है अतः वे व्यभिचारादि दोष हैं, हेत्वाभास हैं।

★ 2. पर्वत पर वह्नि होने पर भी अनुमान करने वाले को कैसे भी 'वह्न्यभाववान् पर्वतः' ऐसा ज्ञान हो गया। इस ज्ञान से (भ्रमात्मक ज्ञान) से 'पर्वतो वह्निमान्' अनुमिति नहीं होगी। अतः यह ज्ञान अनुमिति का विरोधी हुआ। अतः 'पर्वतो वह्निमान्' अनुमिति का सद्हेतु धूम भ्रमज्ञान के कारण हेत्वाभास बनेगा। इस प्रकार सद्हेतु में भी हेत्वाभास का लक्षण जाने से अतिव्याप्ति दोष होगा।

3. यद्विषयकत्वं यादृशविशिष्टविषयकत्वं ⇒ यद्विषयक का ऐसा अर्थ लेने से अतिव्याप्ति दूर होगी - जैसे विशिष्ट विषय वाला ज्ञान अनुमिति का प्रतिबंधक है, वैसी विशिष्ट विषय दोष है (यहाँ वह्निमत्पर्वतत्वावच्छिन्न पर्वत है, वह्न्यभाववत्पर्वतत्वावच्छिन्न पर्वत है ही नहीं) अतः वह्न्यभाववत्पर्वतत्वावच्छिन्न पर्वत विषयक ज्ञान भले अनुमिति का प्रतिबंध करे किंतु ऐसा पर्वत (विषय) ही असिद्ध होने से धूम (हेतु) दुष्ट नहीं होता। जब भ्रम दूर होगा तब अनुमिति होगी।

[नैयायिक मत में पक्षाभास, साध्याभासादि दोष नहीं माने जाते। वे इन सब दोषों को किसी-न-किसी संबंध से हेतु में लाकर हेत्वाभास रूप में मानते हैं। हेत्वाभास के 5 प्र. में से प्रथम 3 में हेतु दुष्ट होता है, अंतिम 2 में हेतु (मूलतः) दुष्ट नहीं होता। ~~किंतु~~] e.g. -

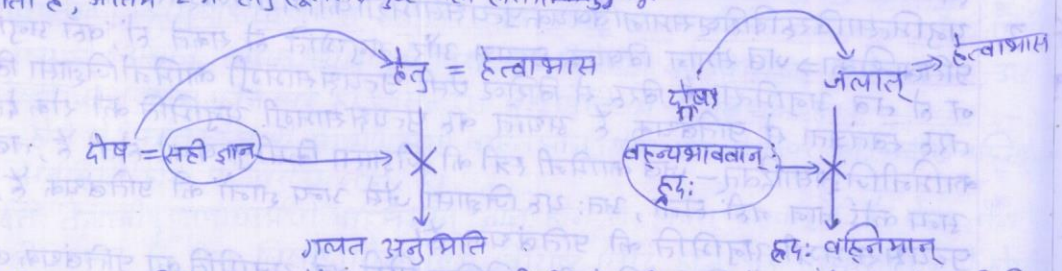

कोई गलत अनुमिति कर रहा है। उस गलत अनुमिति को सही ज्ञान रोकता है। अतः 'अनुमिति को रोकने वाले ज्ञान का विषय' इस परिभाषा से वह सही ज्ञान ही दोष बनेगा। उस ज्ञान के विषय को किसी-न-किसी संबंध से हेतु में लाएँगे, जिससे हेतु हेत्वाभास बनेगा।]

★ [उपर्युक्त भ्रमात्मक ज्ञान का दृष्टान्त बाध हेत्वाभास का था, जहाँ सद्हेतु धूम को बाध हेत्वाभास होने की आपत्ति थी। उत्तर पक्ष में बताया कि वहाँ हेतु के बाध हेत्वाभास होने का भ्रम हुआ था, हेतु दुष्ट नहीं था। इसे बाध भ्रम कहते हैं।

नव्य नैयायिक बाध और सत्प्रतिपक्ष दोनों को नित्य मानते हैं। अतः दोनों में हेतु दुष्ट होने के बाद कभी वह हेतु पुनः सद्हेतु नहीं होता। इसलिए उपर्युक्त परिष्कार से वे बाधभ्रम में हेतु को दुष्ट नहीं मानते ताकि भ्रम दूर होने के बाद दुष्ट हेतु को सद्हेतु न मानना पड़े।

प्राचीन नैयायिक बाध को ~~केवल~~ नित्य और सत्प्रतिपक्ष को अनित्य मानते हैं। बाधभ्रम में उन्हें यह

परिष्कार स्वीकार्य है जिससे हेतु दुष्ट ही न मानना पड़े। किंतु हेत्वाभास के लक्षण में किया जाय यह परिष्कार सत्प्रतिपक्ष में भी लगेगा। सत्प्रतिपक्ष अनित्य मानने से प्राचीन नैयायिकों को यहाँ आपत्ति आती है कि परिष्कार से सत्प्रतिपक्षभ्रम में हेतु दुष्ट नहीं होता। वे हेतु भ्रम में दुष्ट मानते हैं फिर भ्रम दूर होने पर सद्हेतु मानते हैं। अतः प्राचीन नैयायिक यहां पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं -

पू. कोई पर्वत पर 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' अनुमिति कर रहा है। वहाँ उसे परामर्श में 'वह्नित्वाव्य-धूमवान् पर्वतः' की जगह 'वह्न्यभावत्वाप्यपाषाणप्रयत्नवान् पर्वतः' ऐसा भ्रम हुआ। यह सत्प्रतिपक्ष का भ्रम है। यदि 'यद्विषयकत्वं यादृशविशिष्टविषयत्वं' ऐसा परिष्कार करोगे तो सत्प्रतिपक्षभ्रम में भी धूम हेतु हेत्वाभास नहीं बनेगा क्योंकि वहाँ 'वह्न्यभावत्वाप्यवान् पक्षः' ऐसा विशिष्ट ही नहीं है। धूम हेत्वाभास नहीं बनेगा तो सत्प्रतिपक्ष को नित्य दोष मानने की आपत्ति होगी।
[अतः सत्प्रतिपक्ष अनित्य होने से पहले दुष्ट और भ्रम दूर होने के बाद अदुष्ट मानेंगे]

उ. (नव्य नैयायिक) इष्टापत्तेः ⇒ सत्प्रतिपक्ष नित्य होने से हमें तो यह आपत्ति इष्ट ही है। अतः ये परिष्कार हम मानेंगे। यदि ये परिष्कार न माने तो अन्य भी अनित्य दोष न मानने की आपत्ति होगी (क्योंकि ये लक्षण तो वहाँ भी जाएगा)।
इसलिए वहाँ 'वह्न्यभावत्वाप्यपाषाणप्रयत्नवान्पर्वतः' ऐसे परामर्शकाल में 'वह्नित्वाप्य धूम' हेतु आभास नहीं होता। मात्र भ्रम से वहाँ अनुमिति अटक जाती है, हेतु दुष्ट नहीं है।

→ इत्थं च साध्याभाववद्वृत्तिहेत्वादिकं दोषः ⇒ इस प्रकार परिष्कार करने से प्रथम 3 हेत्वाभास में हेतु और अंतिम 2 में पक्ष ही दोष बन जाएगा। e.g. व्यभिचार हेत्वाभास में परिष्कार करने के पहले साध्याभाववद्वृत्तित्व दोष था और यह दोष हेतु में रहने से हेतु दुष्ट बनता था। परिष्कार में 'यादृशविशिष्ट' पद जोड़ने से साध्याभाववद्वृत्तित्वविशिष्ट हेतु स्वयं दोषबनेगा यह दोष तादात्म्य संबंध से हेतु में रहने से हेतु दुष्ट बनेगा।
इस दोष को किसी भी संबंध से हेतु में जोड़ देना चाहिए, इस प्रकार नव्य नैयायिकों का मत है।

★ [उपर्युक्त परिष्कार नव्य नैयायिक करते हैं क्योंकि उन्हें बाध और सत्प्रतिपक्ष भ्रम में को नित्य मानने से आपत्ति नहीं होती। प्राचीन नैयायिकों को दोनों में से एक जगह अवश्य आपत्ति होगी क्योंकि वे सत्प्रतिपक्ष को अनित्य मानते हैं। अतः वे यह परिष्कार नहीं मानते। अब प्राचीन नैयायिकों का मत बताते हैं -]

पू. (प्राचीन नैयायिक-) आपका लक्षण हेत्वाभास का लक्षण नहीं है, वह तो दोष का लक्षण है। अतः दुष्ट हेतु यानि हेत्वाभास का लक्षण ऐसा होना चाहिए - यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्या-नुमितिविरोधित्वं तद्वत्त्वं - जिस विषय वाला होने से ज्ञान अनुमिति का विरोधी होता है वह विषय दोष, वह दोषवाला हेत्वाभास।

उ. (नव्य नैयायिक-) इससे तो सत्प्रतिपक्ष भ्रम में आपत्ति होगी क्योंकि वहाँ 'वह्न्यभावत्वाप्यवान् पर्वतः' यह पर्वत वह्न्यभाव के व्याप्य वाला है' ऐसा ज्ञान अनुमिति को रोकता है। अतः वह्न्यभाव की व्याप्ति अनुमिति को ~~रोकने~~ रोकने से यह व्याप्ति ही दोष बनेगी।

पू. सत्प्रतिपक्षे विरोधिव्याप्त्यादिकमेव तथा ⇒ हमें तो यह इष्टापत्ति ही है। हम सत्प्रतिपक्ष में जो अनुमिति हो उसकी विरोधी व्याप्ति को ही दोष मानते हैं। और उससे दुष्ट हेतु को हेत्वाभास मानते हैं।

उ. किंतु यह विरोधी व्याप्ति हेतु धूम में तो रहती नहीं है, अतः धूम कैसे हेत्वाभास हुआ?

पू. तद्वत्त्वं च हेतोर्ज्ञानरूपसम्बन्धेन ⇒ वहाँ विरोधीव्याप्ति और धूम का समूहालंबन ज्ञान होगा 'वह्न्यभाववदन्यावृत्तित्वं धूमश्च'। इस ज्ञान का विषय विरोधीव्याप्ति इसी ज्ञान के अन्य विषय धूम में (स्वविषयकज्ञानविषयत्व) ज्ञान द्वारा घटित संबंध से रहता है। अतः धूम हेतु दुष्ट होगा

उ. ऐसा तो बाधभ्रम में भी हेतु का ज्ञान द्वारा चाहत संबंध से दुष्ट मानना पड़ेगा। फिर बाधभ्रम दूर होने पर उसी हेतु को सद्हेतु मानने से बाध दोष अनित्य मानने की आपत्ति होगी।

पू. न चैवं .... वाच्यम् ⇒ आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए कि 'वह्निमान् धूमात्' अनुमान में पक्ष में बाधभ्रम ज्ञान साध्याभाव (वह्न्यभाव) के विषय वाला होने से अनुमिति का विरोधी है अतः ज्ञान रूप संबंध से सद्हेतु भी उस दोष से दूषित होगा। इसलिए सद्हेतु भी बाधित होने की आपत्ति है। क्योंकि -

तत्र ज्ञानस्य सम्बन्धत्वाकल्पनात् ⇒ वहाँ ज्ञान की संबंध रूप कल्पना नहीं की जाती अर्थात् वहाँ दोष और हेतु के बीच ज्ञान संबंध नहीं बनता।

उ. सत्प्रतिपक्ष में ज्ञान को संबंध मानते हो और बाध में नहीं, इसका क्या कारण ?-

पू. सत्प्रतिपक्ष भ्रम में (तत्र) 'हेतु सत्प्रतिपक्ष वाला है' ऐसा व्यवहार होता है किंतु बाधभ्रम में (तत्र) 'हेतु बाधित है' ऐसा व्यवहार नहीं होता। इसलिए (नैयायिक मत में व्यवहार में होने वाले अनुभव को प्रमाण माना जाता है) ऐसे व्यवहार से एक जगह ज्ञान को संबंध माना जाता है और एक जगह नहीं।

[इत्याहुः' पद से विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य ने इस मत को नहीं स्वीकारा है क्योंकि यह मत तर्क से सिद्ध नहीं है। यद्विषयकत्वेन कहने से साध्यवद्अन्यवृत्तित्व, साध्याभाव वि. दोष बनते थे किंतु यादृशविशिष्टविषयकत्वेन पद से साध्यवदन्यवृत्तित्व विशिष्ट हेतु (व्यभिचार हेत्वाभास में), साध्याभाववान् पक्षः (बाध हेत्वाभास में) वि. दोष बनेंगे। ऐसा दोष भ्रम में न होने से हेतु दुष्ट नहीं बनेगा। यही मत तर्कसिद्ध है।

दूसरा कारण यह भी है कि सत्प्रतिपक्ष व्याप्य है, बाध व्यापक है। अतः व्यापक को नित्य और व्याप्य को अनित्य नहीं मान सकते।]

★पू. आपने हेत्वाभास का ऐसा लक्षण बनाया कि जिस विषय का ज्ञान अनुमिति को रोके, वह विषय हेत्वाभास। यह लक्षण व्यभिचारी हेतु में नहीं जाता क्योंकि वह अनुमिति को नहीं रोकता किंतु व्याप्तिज्ञान को ही रोक देता है। अतः अव्याप्ति होगी।

उ. अनुमितिविरोधित्वं अनुमितितत्करणान्यतरविरोधित्वम् ⇒ अनुमिति के विरोधी का अर्थ यहाँ अनुमिति या उसके करण, दोनों में से किसी एक का विरोधी करना। यह अजहत् स्वार्थलक्षणा है। अनुमिति में करण व्याप्ति ज्ञान होता है और परामर्श व्यापार होता है। अतः अनुमिति या व्याप्ति को रोकने वाले ज्ञान का विषय हेत्वाभास है, ऐसा लक्षण करने से व्यभिचारी हेतु में भी लक्षण समन्वय होगा, अव्याप्ति दूर होगी।

पू. कोई 'पर्वतो वह्निमान् द्रव्यत्वात्' अनुमान कर रहा है। तुरंत ही उसे गलती पता चलने पर उसने सुधार कर 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' अनुमान किया, जिससे उसे 'पर्वतो वह्निमान्' अनुमिति हुई। यहाँ द्रव्यत्व हेतु व्यभिचारी होने पर भी वह व्याप्ति या अनुमिति को रोक न सका। अतः द्रव्यत्व हेतु में व्यभिचार दोष के लक्षण की अव्याप्ति हुई।

उ. दोषज्ञानं यद्धेतुविषयकं तद्धेतुकानुमितौ प्रतिबन्धकं ⇒ दोषज्ञान जिस हेतु के विषय में होता है, उसी हेतु वाली अनुमिति में वह दोषज्ञान प्रतिबंधक होता है। अतः यहाँ द्रव्यत्व हेतु में व्यभिचार दोष का ज्ञान हुआ तो उस हेतु से यह अनुमिति नहीं हुई, अन्य हेतु से अनुमिति हुई।

(बीच में पूछे हुए प्रश्न का उत्तर देकर पुनः व्यभिचारी हेतु में अव्याप्ति दूर होने का कारण बताते हैं-]

तदभावाग्रहत्वाच्च व्यभिचारज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वाभावेऽपि न क्षतिः ⇒साध्य के अभाव का अवगाही ज्ञान अनुमिति को रोक सकता है e.g. 'पर्वतः वह्न्यभाववान्' ऐसा साध्याभाव का ज्ञान 'पर्वतो वह्निमान्' अनुमिति को रोक सकता है। किंतु व्यभिचार ज्ञान साध्य के अभावादि का अवगाही न होने से अनुमिति को रोक नहीं सकता। अतः उपर्युक्त (अनुमितितत्करणान्यतर विरोधित्वं) परिष्कार करने से अनुमिति के करण को रोकने से क्षति नहीं है अर्थात् अव्याप्ति नहीं होगी, लक्षण समन्वय हो जाएगा।

★ पू. कोई 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' अनुमिति कर रहा है। वह में पता चला पर्वत पर धूम ही नहीं है। इसे 'हेत्वभाववान् पक्षः' ऐसा स्वरूपासिद्धि ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान से अनुमिति ~~नष्ट~~ नहीं होती है। अतः यह भी हेत्वाभास है किंतु आपके हेत्वाभास का लक्षण इसमें नहीं जाता क्योंकि यह अनुमिति या व्याप्तिज्ञान दोनों में से किसी को नहीं रोकता, यह तो 'साध्यव्याप्य हेतुमान् पक्षः' ऐसे परामर्शज्ञान को रोकता है।

उ. 'अनुमिति' पद की लक्षणा से 'तत्करण' पद लिया है। वहाँ 'करण' शब्द का अर्थ 'साधारण कारण' ले लेने से यह अव्याप्ति दूर हो जाएगी। अनुमिति या उसके कोई भी कारण को रोकने वाला ज्ञान हेत्वाभास है। यह स्वरूपासिद्धि ज्ञान अनुमिति के कारण ऐसे परामर्श ज्ञान को रोकता है। अतः उसमें भी हेत्वाभास का लक्षण जाता है।

★ पू. ऐसा लक्षण बनाने पर भी एक जगह अव्याप्ति होती है। कोई 'पर्वतो वह्निमान्' अनुमान कर रहा है। किंतु 'निर्वह्नि' विशेषण पर्वत का त्यागकर आहार्य ज्ञान कर रहा है। - 'निर्वह्निपर्वतो वह्निमान्' वह्नि रहित पर्वत वह्निमान् है। 'निर्वह्नि पर्वत' प्रसिद्ध नहीं है क्योंकि वहाँ पर्वत वास्तव में वह्निमान् है। अतः यह पक्षासिद्धि दोष है। यह दोष कोई-न-कोई संबंध से हेतु में रहेगा। अतः हेतु दुष्ट है किंतु उसमें हेत्वाभास का लक्षण नहीं जा रहा है। ∵ अत्यवत वह व्यक्ति इच्छानुसार ज्ञान कर रहा है किंतु वह जैसे पक्ष (निर्वह्नि पर्वत) का ज्ञान कर रहा है, वहाँ वैसा पक्ष है ही नहीं इसे पक्षासिद्धि दोष कहते हैं।

(ii) (मु. ५५) ['निर्वह्निपर्वतो वह्निमान् धूमात्' यह आहार्य ज्ञान है। आहार्य ज्ञान यानि ज्ञाता की इच्छा से किया हुआ ज्ञान। ऐसा ज्ञान विरोधी होने पर भी उसे कोई नहीं रोक सकता। आहार्य ज्ञान अनुमिति रूप नहीं होता।

पू. आहार्य ज्ञान अनुमिति नहीं होता तो उसमें हेत्वाभास का लक्षण क्यों जाना चाहिए?

उ. यहाँ 'पर्वतो वह्निमान्' इतना अंश अनुमिति है और वह वास्तविक है किंतु अनुमाता इच्छा से ही 'निर्वह्नि' विशेषण त्याग देता है जिससे यह ज्ञान आहार्य ज्ञान बन जाता है। यहाँ वास्तविक अनुमिति में लक्षण घट जाना चाहिए किंतु वह जैसे पक्ष का ज्ञान कर रहा है, वैसा पक्ष वहाँ न होने से पक्षासिद्धि दोष आ रहा है।]

उ. यादृशपक्षसाध्यहेतौ यावन्तः दोषास्तावदन्यान्यत्वं तत्र हेत्वाभासत्वम् ⇒ पक्ष-साध्य-हेतु में जितने दोष हैं, उन सबसे अन्य से अन्य हेत्वाभास है अर्थात् पक्ष-साध्य-हेतु में जितने दोष हैं उन सबसे अन्य पूरा जगत्, उस जगत् से अन्य वे दोष स्वयं ही हेत्वाभास हैं। ऐसा लक्षण सभी जगह घट जाएगा। उपर्युक्त आहार्य ज्ञान के पक्षासिद्धि दोष से भन्य जगत्, उस जगत् से भन्य पक्षासिद्धि दोष हेत्वाभास है।

पू. ऐसे तो कहीं 2, कहीं 3, कहीं 4 दोष रहेंगे। आपने हेत्वाभास 5 क्यों बताए?

उ. 5 हेत्वाभास तो उनके संभव स्थल की अपेक्षा से कहे। हेत्वाभास एक साथ अधिकतम 5 संभव है।

एवं च साधारणाद्यन्यतमत्वमनैकान्तिकत्व ⇒ अनैकान्तिक हेत्वाभास का लक्षण भी इसी प्रकार जानना कि साधारणादि उभेद में से कोई एक होना।

★ अनैकान्तिक हेत्वाभास के भेद - का. 72 - अनैकान्तिक के 3 भेद -

1. साधारण: साध्यवदन्यवृत्तिर्हेतु: ⇒ साध्यवद् से अन्य में न रहने वाले हेतु की व्याप्ति होती है। साधारण हेत्वाभास वह है जो हेतु साध्यवद् से अन्य में रहता है। अत: यह हेतु व्याप्ति ग्रहण को अटका देता है।
2. असाधारण: साध्यासमानाधिकरणो हेतु: ⇒ साध्य के समान अधिकरण में न रहने वाला हेतु हेत्वाभास है। eg. 'शब्द: नित्य: शब्दत्वात्' अनुमान में शब्दत्व हेतु के अधिकरण में नित्यत्व साध्य नहीं रहता, यह निश्चित है। अत: इस हेतु से साध्य के समानाधिकरणत्व का ग्रहण अटक जाता है।

[प्र. हेतु के अधिकरण में साध्य नहीं रहता, अत: स्पष्ट है कि हेतु साध्य से विरुद्ध है। तो यह विरुद्ध हेत्वाभास है, इसे अनैकान्तिक में क्यों रखा?

उ. हेतु विरुद्ध है, ऐसा निश्चित अभी नहीं है इसलिए अनैकान्तिक कहा है। eg. शब्दत्व के अधिकरण शब्द में नित्यत्व नहीं रहता है, यह निश्चित है किंतु अनित्यत्व रहता है या नहीं, वह अभी निश्चित नहीं है। इसलिए शब्दत्व हेतु अनैकान्तिक है।]

[मीमांसक ईश्वर को नहीं मानते। वे वेद को प्रमाण मानते हैं इसलिए वेद को अनादि सिद्ध करने के शब्द को नित्य मानते हैं। उपर्युक्त अनुमान से शब्द नित्य सिद्ध न होने से वे ये आपत्ति देते हैं -]

प्र. (मीमांसक) 'शब्दोऽनित्य: शब्दत्वात्' इस अनुमान में भी असाधारण हेत्वाभास है क्योंकि वहाँ भी शब्द अनित्य है या नहीं, यह निर्णय न होने से शब्दत्व हेतु के अधिकरण में अनित्यत्व साध्य नहीं रहता है।

उ. (नव्य नैयायिक) इस अनुमान में हेत्वाभास नहीं है क्योंकि 'शब्दोऽनित्य: कृतकत्वात्' अनुमान से शब्द में अनित्यत्व सिद्ध हो जाता है। इससे शब्दत्व हेतु के अधिकरण में अनित्यत्व साध्य का समानाधिकरण्य निश्चित हो जाता है। अत: यहाँ असाधारण हेत्वाभास का भ्रम होता है। उस भ्रम से मात्र व्याप्ति ज्ञान रुक जाता है किंतु भ्रम दूर होने पर अनुमिति होती है। हेतु दुष्ट नहीं होता।

[नव्य नैयायिक असाधारण को भी साध्य की तरह नित्य मानते हैं किंतु प्राचीन नैयायिक अनित्य मानते हैं। इसलिए नव्य नैयायिक असाधारण भ्रम में हेतु दुष्ट नहीं मानते। अब प्राचीन नैयायिकों का मत बताते हैं -]

सपक्षावृत्ति: असाधारण: ⇒ जहाँ साध्य का निश्चय हो, वह सपक्ष। ऐसे सपक्ष में न रहने वाला हेतु असाधारण हेत्वाभास है। इस प्रकार 'शब्दोऽनित्य: शब्दत्वात्' अनुमान में शब्द में अनित्यत्व का निश्चय हो गया है (शब्दोऽनित्य: कृतकत्वात् अनुमान से) और शब्दत्व हेतु शब्द में रहता है, यह निश्चय है ही। अत: यहाँ असाधारण दोष नहीं है।

3. अनुपसंहारी अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकाधि: ⇒ जिस हेतु के साध्य, पक्ष और हेतु (स्वयं) अत्यंताभाव के अप्रतियोगी हो अर्थात् जिस हेतु के साध्य, पक्ष और स्वयं का अत्यंताभाव लोक में कहीं न हो, वह अनुपसंहारी हेत्वाभास है। अर्थात् जो हेतु, साध्य और पक्ष पूरे लोक में हो, वहाँ सपक्ष या विपक्ष कुछ न हो, सब पक्षरूप ही हो, वहाँ कोई दृष्टांत न होने से व्याप्ति का उपसंहार नहीं होता, इसलिए अनुपसंहारी दोष है। eg. सर्वं अभिधेयं प्रमेयत्वात्।
'जहाँ जहाँ साध्याभाव है, वहाँ वहाँ हेत्वभाव है' यह व्यतिरेक व्याप्ति है। इस हेत्वाभास से व्यतिरेकव्याप्ति

(i) का ज्ञान रुक जाता है। (i) (Pg. No. 44)

★ 4. विरुद्ध: साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगी ⇒ ~~जो~~ जो हेतु साध्य के व्यापक ऐसे अभाव का प्रतियोगी हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है। अर्थात् जो साध्य का व्यापक अभाव है उसका प्रतियोगी ; ~~जहाँ~~ जहाँ साध्य के व्यापक रूप में रहे अभाव का प्रतियोगी अर्थात् साध्य व्याप्य हो और हेत्वभाव व्यापक हो ∴ जहाँ जहाँ साध्य है वहाँ वहाँ हेत्वभाव है ⇒ जहाँ जहाँ हेतु है वहाँ साध्याभाव है। अत: जो हेतु साध्य को नहीं किंतु साध्याभाव को सिद्ध करता हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है।
यह हेतु साध्य के अभाव को सिद्ध करने की सामग्री होने से अनुमिति का प्रतिबंधक है।

प्र. सत्प्रतिपक्ष में भी हेतु साध्याभाव को सिद्ध करता है। अत: इन दोनों में क्या अंतर है?

उ. सत्प्रतिपक्ष में 2 हेतु होते हैं। उसमें प्रति हेतु साध्याभाव का साधक है। यहाँ तो एक ही हेतु है, वही साध्याभाव का साधक है। साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला हेतु वादी ने साध्य को सिद्ध करने के लिए दिया, यह वादी की निर्बलता को बताता है। जबकि सत्प्रतिपक्ष में तो प्रतिवादी दूसरा हेतु देकर वादी के अनुमान को रोकता है, यह भी अंतर है।

★ 5. सत्प्रतिपक्ष: साध्याभावव्याप्यवान् पक्ष: ⇒ साध्याभाव के व्याप्य वाला पक्ष होना सत्प्रतिपक्ष दोष है। eg. 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' अनुमान के सामने 'ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्' अनुमान करो तो परस्पर दोनों अनुमिति रुक जाएगी। अत: धूम हेतु दुष्ट है। ('ह्रदो वह्निमान् धूमात्' भ्रम है। जब भ्रम दूर होगा तब अनुमिति होगी। इसलिए जल हेतु दुष्ट नहीं है।)]
[प्राचीन नैयायिक सत्प्रतिपक्ष को नित्य नहीं मानते हैं। इसलिए वे दोनों हेतु को दुष्ट मानते हैं। उनका मत बताते हैं -]
अगृहीतापप्रामाण्यक ... ⇒ जिसकी प्रमाणता ग्रहण न की हो ऐसे साध्य के व्याप्य वाले पक्ष ज्ञान की उपस्थिति के समय ही, प्रमाणता ग्रहण न की हो ऐसे साध्याभाव के व्याप्य वाले पक्ष ज्ञान का विषय सत्प्रतिपक्ष है। अर्थात् कोई अनुमान कर रहा है 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्'। इस अनुमिति में परामर्श होगा 'ह्रदो वह्नित्वव्याप्यधूमवान्'। उसने इस ज्ञान की प्रामाणिकता ग्रहण नहीं की है। इसी समय जल दिखने से उसे अनुमान हुआ 'ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्', यहाँ परामर्श होगा 'ह्रदो वह्न्यभावत्वव्याप्यजलवान्'। इस ज्ञान की प्रामाणिकता भी ग्रहण नहीं की। अत: वह तो दोनों अनुमान को सही समझता हुआ हेतु दुष्ट मानेगा। अत: दोनों हेतु दुष्ट होते हैं। फिर जब वह दोनों में से एक भी ज्ञान की प्रमाणता-अप्रमाणता का निर्णय करता है, तब एक हेतु से अनुमिति हो जाएगी। यहाँ जब धूम का भ्रम दूर होगा तब जल हेतु सत् बनेगा और वह्न्यभाव सिद्ध हो जाएगा। (यह अधिकतर ऐसे। पुरुष को नहीं होता है किंतु वाद में 2 पुरुष द्वारा होता है।)
यहाँ परस्पर अभाव के व्याप्य वाले के ज्ञान से परस्पर अनुमिति रुक जाती है, यही इसका फल है।

★→ [कोई विद्वान् ऐसा मानते हैं कि सत्प्रतिपक्ष में अनुमिति का प्रतिबंध नहीं होता किंतु संशयात्मक अनुमिति होती है, उनका मत बताते हैं -]

पू. भूतल पर घट है किंतु अंधेरे में दिखता नहीं है। अत: पहले क्षण में व्यक्ति को घटाभाव के व्याप्य का ज्ञान है, दूसरे ही क्षण अचानक light होने से घट-चक्षु का संयोग होने पर घट का ज्ञान हुआ। ऐसे ही शंख में पहले क्षण 'पीतत्वाभावव्याप्यशंखत्ववान् अयं' ऐसा ज्ञान है किंतु दूसरे ही क्षण पित्तादि दोष से पीला शंख दिखा। इन दोनों दृष्टांत में तदभावव्याप्यवत्ता का ज्ञान होने पर भी दूसरे क्षण में भी तद्वत्ता ज्ञान हो गया। आपके मत में तो ऐसा नहीं होना चाहिए। पहले क्षण का ज्ञान दूसरे क्षण के ज्ञान को रोक देना चाहिए।
'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' ऐसी शंका होने पर 2 कोटि का ज्ञान होता है - 'स्थाणुत्वव्याप्यकोटरादिमान् अयं और पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयं'। ऐसे दोनों ज्ञान होने पर भी दोनों कोटि का संशयात्मक प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष की तरह सत्प्रतिपक्ष में भी दोनों कोटि की संशय रूप अनुमिति होती ही है।

दो में से एक कारण का ज्ञान बलवान् निर्णय होगा तब उसका बल बढ़ने से दूसरा कारण का ज्ञान रुकने से संशय नहीं होगा।

प्र. कौन-सी कोटि बलवान्, यह कैसे पता चले?

उ. फल से उसकी कल्पना की जाती है।

[ऐसे पहले प्रतिबंधक-प्रतिबध्यभाव को तोड़, फिर संशय अनुमिति की स्थापना की। यह रत्नकोशकार का मत कहते हैं]

उ. ऐसा नहीं है, यदि ऐसा नहीं प्रतिबध्य-प्रतिबंधकभाव नहीं मानोगे तो सभी जगह अलग-अलग प्रतिबंधक मानने से गौरव होगा –

(a) आलोक संयोग न होने से अंधकार में घट का ज्ञान नहीं होता है। अतः अंधकारादिसहकृत घटाभाव के ज्ञान को घटज्ञान का प्रतिबंधक मानना पड़ेगा।

(b) पित्तादि दोष न होने से पीतशंख का ज्ञान प्रतिबंध हो जाता है। अतः पित्तादिदोषासहकृत पीतत्वाभावव्याप्य के ज्ञान को पीतत्व ज्ञान का प्रतिबंधक मानना पड़ेगा।

(c) एक पर्वत पर वह्न्यभाव के ज्ञान से अलौकिक सन्निकर्ष से 'सर्वे पर्वताः वह्न्यभाववन्तः' ऐसा ज्ञान होता है। इसे उपनीतभान भी कहते हैं। यह ज्ञान 'पर्वताः वह्निमन्तः' ज्ञान का प्रतिबंधक है। अतः तद्वत्ता उपनीतभान का प्रतिबंधक तदभावव्याप्यवत्ता ज्ञान मानना पड़ेगा।

(d) तदभावव्याप्यवान् 'ऐसे शाब्द बोध से 'तद्वान्' ज्ञान का प्रतिबंध होता है। अतः तदभावव्याप्यवत्ता-शाब्द बोध को अलग प्रतिबंधक मानना पड़ेगा।

न तूपनीतभानविशेष... गौरवात् = अतः गौरव होने से उपनीतभान और शाब्दबोध में अलग प्रतिबंधकता नहीं मान सकते।

किंतु 'तद्वत्ता ज्ञान के लिए तदभावत्ता या तदभावव्याप्यवत्ता ज्ञान प्रतिबंधक है' इसी सामान्य लक्षण में परिष्कार कर मानने से उपर्युक्त आपत्ति नहीं रहेगी –

लौकिक संनिकर्षजन्य-दोषविशेषाजन्य तद्वत्ता ज्ञान में तदभावव्याप्यवत्ता ज्ञान प्रतिबंधक है।

यह लक्षण उपर्युक्त चारों में कैसे घटेगा? –

(a) घट-चक्षुसंयोग से हुआ घटज्ञान लौकिक संनिकर्ष जन्य है। अतः वह प्रतिबध्य नहीं है, घराभाव ज्ञान उसका प्रतिबंधक भी नहीं है।

(b) पीतशंख का ज्ञान दोषविशेष जन्य है अतः पीतत्वाभावव्याप्य ज्ञान उसका प्रतिबंधक नहीं है।

(c) 'सर्वे पर्वताः वह्न्यभाववन्तः' ऐसे उपनीतभान वाले को वह्निमान् पर्वत का ज्ञान नहीं होता क्योंकि 'सर्वे पर्वताः वह्निमन्तः' ऐसा उपनीतभान अलौकिक संनिकर्ष से जन्य होने के कारण लौकिक-संनिकर्षजन्य है। वह दोषविशेष से भी अजन्य है इसलिए प्रतिबध्य है।

(d) ऐसे ही तदभावव्याप्यवत्ता का शाब्दबोध भी लौकिक संनिकर्ष से अजन्य और दोषविशेषाजन्य है। इसलिए प्रतिबध्य होने से उसका प्रतिबंध 'तदभावव्याप्यवान्' शाब्द बोध से हो जाता है।

{ अतः सत्प्रतिपक्ष में भी प्रतिबंधक होने से अनुमिति कैसे होगी? अर्थात् नहीं होती।

(प्र. शाब्दबोध कान द्वारा होने से लौकिक संनिकर्षजन्य कैसे? उ. लौकिक संनिकर्ष से मात्र कानों वर्णों का ज्ञान होता है। शब्दों का अर्थ बोध लौकिक संनिकर्ष से नहीं होता।)

पू. इस लक्षण में 'संशयात्मक अनुमितिभिन्नत्व' विशेषण भी जोड़ना चाहिए, जिससे सत्प्रतिपक्ष में संशयात्मक अनुमिति का प्रतिबंध न हो।

उ. 'न हि लौकिक... विशेषणीयम्' → लौकिक संनिकर्ष में संशयात्मक प्रत्यक्ष होता है, वह प्रामाणिक है। इस तरह सत्प्रतिपक्ष में संशय अनुमिति प्रामाणिक नहीं है, सभी नहीं मानते। इसलिए 'अनुमिति-भिन्नत्व' विशेषणीय नहीं लगाना चाहिए।

पू. तो स्थाणुर्वा पुरुषो वा' प्रत्यक्ष की तरह संशय अनुमिति क्यों नहीं होती?

उ. संशयात्मक प्रत्यक्ष में दोनों कोटि का ज्ञान अप्रामाण्यक होता है इसलिए वह दोनों एक-दूसरे का 39
प्रतिबंध नहीं कर सकते। अतः संशयात्मक ज्ञान होता है।
सत्प्रतिपक्ष में ऐसा नहीं है। वहाँ दोनों कोटि के ज्ञान के अप्रामाण्य का निर्णय नहीं हुआ है। अतः
दोनों कोटि का ज्ञान अप्रामाण्य नहीं होने से प्रतिबंधक होता है, परस्पर एक-दूसरे का प्रतिबंध
करने से संशयात्मक अनुमिति नहीं होती।
यत्र च ... ⇒ जहाँ दोनों कोटि के व्याप्य का ज्ञान होता है, वहाँ दोनों में अप्रामाण्यज्ञान से
संशय होता है अन्यथा नहीं। जिनका अप्रामाण्यक ग्रहण नहीं किया है ऐसा विरोधीज्ञान
ही प्रतिबंधक है।

★ असिद्धि हेत्वाभास = आश्रयासिद्धि वि. में से एक होना। २ प्रकार -

1. आश्रयासिद्धि: पक्षे पक्षतावच्छेदकस्याभाव: ⇒ पक्ष में पक्षतावच्छेदक का अभाव होना अर्थात् ~~जैसे~~ जैसा पक्ष में अनुमिति कर रहे हैं वैसा पक्ष ही वहाँ न हो। eg. कोई अनुमिति करे- 'काञ्चनमय: पर्वत: वह्निमान्', यहाँ 'काञ्चनमय पर्वत नहीं है' ऐसा ज्ञान विद्यमान होने पर कांचनमय पर्वत पर पराम्रर्श का प्रतिबंध हो जाएगा, यही इसका फल है।
2. स्वरूपासिद्धि: पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभाव: ⇒ स्वरूपासिद्धि यानि पक्ष में हेतु ही न हो। जो हेतु ~~व्याप्य~~ व्याप्य रूप में मानकर आप पक्ष में बता रहे हैं, उसका ही पक्ष में अभाव हो। eg. 'ह्रदो द्रव्यं धूमात्' अनुमान में व्याप्य रूप में बताए गए हेतु धूम के अभाव का पक्ष में ज्ञान होने पर 'साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्ष:' ऐसा पराम्रर्श रुक जाता है, यही इसका फल है।

पू. (प्राचीन नैयायिक) साध्याप्रसिद्धि वि. को भी असिद्धि हेत्वाभास के भेद मानो।
उ. (नव्य नैयायिक) साध्याप्रसिद्धि वि. व्याप्यत्वासिद्धि (~~व्याप्यत्व~~स्वरूपासिद्धि) में अन्तर्भूत है। क्योंकि
ii) साध्याप्रसिद्धि भी व्याप्यत्वासिद्धि है। साध्याप्रसिद्धि यानि साध्य में साध्यतावच्छेदक का अभाव
(Pg.44) अर्थात् जैसा साध्य आप सिद्ध करना चाहते हैं, वैसा साध्य प्रसिद्ध न हो। eg. 'काञ्चनमय-वह्निमान् धूमात्' अनुमान में कांचनमय वह्नि साध्य में कांचनमयत्व और वह्नित्व साध्यता वच्छेदक का अभाव पता चलता है। ऐसा पता चलने पर साध्यतावच्छेदक से विशिष्ट साध्य के व्याप्य वाले पक्ष के ज्ञान रूप पराम्रर्श अटक जाता है। यही इसका फल है।
इसी प्रकार हेतुतावच्छेदक का हेतु में अभाव होना अर्थात् जैसा हेतु चिपा हो, वैसा हेतु अप्रसिद्ध हो, यह साधनाप्रसिद्धि है। eg. 'काञ्चनमयधूमात्'। यहाँ हेतुतावच्छेदक कांचनमयत्व और धूमत्व से विशिष्ट ऐसे कांचनमयधूम के ज्ञान का अभाव होने से तद्धेतुक व्याप्ति ज्ञान आदि रुक जाते हैं, यही इसका फल है।

पू. एवं वह्निमान् ... ⇒ इस प्रकार 'वह्निमान् नीलधूमात्' वि. अनुमानों में 'नीलधूमत्व' है धर्म गुरु होने से हेतुतावच्छेदक नहीं होता। अतः हेतु हेतुतावच्छेदक से विशिष्ट होने से व्याप्यत्वासिद्धि दोष यहाँ होगा।
उ. अवच्छेदक के लक्षण में 'अन्यूनातिरिक्त' पद है 'लघुभूत' नहीं। अतः नीलधूमत्व धर्म अन्यूनातिरिक्त होने से गुरुधर्म होने पर भी अवच्छेदक बन सकता है।
पू. हम तो अवच्छेदक में वस्तु का स्वरूप ही लेते हैं। अतः नीलधूमत्व अवच्छेदक नहीं बनेगा।
उ. 'अयं पशुमान् सास्नादिमत:' ऐसे अनुमान में गोत्व धर्म सास्नादिमत्व की अपेक्षा लघु धर्म है। अतः आपके मत से गोत्व ही अवच्छेदक बनेगा और इस अनुमान में व्याप्यत्वासिद्धि दोष होगा। अतः यह अनुमान नहीं होगा किंतु ऐसी अनुमिति तो सही होती है, अतः 'गुरुभूत धर्म अवच्छेदक नहीं बनता' यह हमें मान्य नहीं है। ऐसी जगह

हत्वाभास नहीं है। इस
इस प्रकार नव्यों ने 'इति वदन्ति' कर यह मत नहीं स्वीकारा।

★ बाध हत्वाभास = पक्षे साध्याभावादिः ⇒ पक्ष में साध्य का अभाव होना बाध दोष है। अनुमिति का प्रतिबंध इसका फल है। क्योंकि तद्धर्मी संबंधी तदभाव का निश्चय लौकिक-संनिकर्षजन्य और दोषविशेषाजन्य तद्धर्मी संबंधी तद्ज्ञान में विरोधी है अर्थात् तदभाव या तदभावव्याप्यवत्ता का ज्ञान लौकिक संनिकर्ष से अजन्य और दोष विशेष से अजन्य ऐसे तद्वत्ता ज्ञान का विरोधी है। उ.ध. ~~पर्वत~~ वह्नि के धर्मी पर्वत में वह्न्यभाव या वह्न्यभाव के व्याप्य का ज्ञान वह्नि के धर्मी पर्वत में वह्नि के ज्ञान का विरोधी है।

→ [कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि अनुमिति में संशय भी कारण है। साध्य को सिद्ध करने के पहले साध्य का संशय होना चाहिए। वह संशय 2 प्र. का होगा – ① संशयात्मक संशय = जिसमें साध्य का निश्चय न हो ऐसा संशय ② निश्चयात्मक = जिसमें साध्य का निश्चय हो किंतु सिषाधयिषा हो। इन 2 प्र. के संशय से ही अनुमिति होती है। इस मत वाले का यहाँ खंडन करते हैं –]

पू. (प्राचीन नैयायिक) पक्ष में संशय साधारण (दोनों प्र. का संशय) यानि पक्ष में साध्य के संसर्ग का ज्ञान अनुमिति का कारण है क्योंकि साध्य का संशय न हो तो अनुमिति कौन करेगा? और बाध-सत्प्रतिपक्ष इसी संशय के विरोधी होने से हत्वाभास हैं। अर्थात् बाध और सत्प्रतिपक्ष इस संशय को ही रोक देते हैं। अतः अनुमिति भी रुक जाती है। फलतः वे हत्वाभास होते हैं।

उ. (नव्य नैयायिक) ऐसा संशय अनुमिति का कारण नहीं है क्योंकि –

① अप्रसिद्धसाध्यकानुमित्यनापत्तेः ⇒ जिस अनुमिति का साध्य प्रसिद्ध नहीं है, ऐसी अनुमिति की प्राप्ति नहीं होगी क्योंकि संशय हमेशा प्रसिद्ध धर्म का होता है। जो धर्म जगत में कहीं प्रसिद्ध हो, 'वह धर्म यहाँ पक्ष में है या नहीं' ऐसा संशय होता है। अप्रसिद्ध धर्म का संशय कभी नहीं होता। अतः अप्रसिद्ध धर्म का संशय न होने से उस धर्म की अनुमिति भी नहीं होना चाहिए। किंतु ऐसा नहीं है। अप्रसिद्ध धर्म की भी अनुमिति होने से अनुमिति में संशय कारण नहीं है, यह सिद्ध होता है। उ.ध. 'पृथ्वी इतरभेदवती गन्धवत्त्वात्' इस अनुमान का साध्य इतरभेदवत्त्व पक्ष पृथ्वी सिवाय कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। किंतु संशय बिना भी इसकी अनुमिति तो होती ही है।

② साध्यसंशयादिकं विनापि अनुमित्युत्पत्तेः ⇒ साध्य के संशय बिना भी अनुमिति होती है। उ.ध. आकाश में गर्जना सुनकर मेघ का अनुमान संशय बिना ही हो जाता है। अतः संशय बिना भी अनुमिति होने से संशय को अनुमिति का कारण नहीं मान सकते। संशय अनुमिति का कारण न होने से बाध-सप्रतिपक्ष को उसके विरोधी होने से हत्वाभास नहीं मान सकते। बाध-सत्प्रतिपक्ष अनुमिति के विरोधी होने से ही हत्वाभास हैं।

[यहाँ प्राचीन और नव्य नैयायिकों में इतना अंतर है कि प्राचीन नैयायिक संशय को भी अनुमिति का कारण मानते हैं। अतः पहले संशय → व्याप्ति → परामर्श → अनुमिति ऐसा क्रम होने से बाध-सत्प्रतिपक्ष संशय को ही रोक देते हैं। अर्थात् अनुमिति की शुरुआत से ही रोक देते हैं।

जबकि नव्य नैयायिक संशय को कारण नहीं मानते। उनके मत में संशय बिना भी अनुमिति हो सकती है। अतः बाध-सत्प्रतिपक्ष हत्वाभास व्याप्ति और परामर्श ज्ञान होने के बाद अनुमिति को रोकते हैं।]

→ [कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि साध्याभाव का पक्ष में ज्ञान बाध हत्वाभास नहीं है किंतु इस ज्ञान में रहा प्रमात्व धर्म बाध हत्वाभास है। उनका मत और उसका खंडन बताते हैं –]

पू. 'वह्न्यभाववान् पर्वतः' ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान होता है। किंतु यह ज्ञान अप्रमा है, ऐसा पता चलने के बाद अनुमिति नहीं अटकती। अतः यह स्पष्ट है कि 'वह्न्यभाववान् पर्वतः' ज्ञान से अनुमिति नहीं अटकती किंतु यदि यह ज्ञान प्रमा है तो ही अनुमिति अटकती है। अतः बाध हेत्वाभास साध्याभाव के ज्ञान को नहीं किंतु उस ज्ञान में रहे प्रमात्व धर्म को मानना चाहिए।

उ. एवं ... प्रमाणाभावात् ⇒ ऐसे साध्याभाव के ज्ञान में रहे प्रमात्व धर्म के ज्ञान का भी बाध नहीं मान सकते क्योंकि ऐसा मानने में प्रमाण का अभाव है। साध्यवत्ता ज्ञान का प्रतिबंधक साध्याभाववत्ता का ज्ञान होता है, साध्याभाववत्ता के ज्ञान में रहे प्रमात्व धर्म का ज्ञान नहीं।

गौरवाच्च ⇒ ऐसा मानने में गौरव भी है क्योंकि साध्याभाववत्ता के ज्ञान की जगह साध्याभाववत्ता के ज्ञान में प्रमात्व को प्रतिबंधक मानते हो।

अन्यथा ... प्रतिबंधकतापत्तेः ⇒ और यदि यहाँ ऐसा गौरव मानोगे तो सत्प्रतिपक्षादि में भी तदभावव्याप्यवत्ता के ज्ञान में प्रमात्व का विषय होने से प्रतिबंधकता की आपत्ति होगी अर्थात् अन्य सभी जगह भी 'प्रमात्व' जोड़ना पड़ेगा। eg. सत्प्रतिपक्ष में 'साध्याभावव्याप्य हेतुमान् पक्षः' ज्ञान को दोष मानते हैं, उसकी जगह 'साध्याभावव्याप्यहेतुमान् पक्षः' ज्ञान में प्रमात्व को दोष मानना पड़ेगा, यह गौरव होगा।

पू. किंतु जहाँ बाध का भ्रम होगा, वहाँ तो अनुमिति का प्रतिबंध नहीं होता। अतः प्रमात्व का ज्ञान ही प्रतिबंधक होगा।

उ. किंतु ... प्रतिबन्धकता ⇒ इस आपत्ति को दूर करने बाधादि हेत्वाभास के ज्ञान में 'भ्रमत्वज्ञानानास्कन्दित' विशेषण त्यागना चाहिए। अर्थात् जो बाधादि का ज्ञान भ्रमत्व वाला न हो तो वह ज्ञान प्रतिबंधक होता है।

पू. ऐसे भ्रमत्व ~~ज्ञान~~ अनास्कन्दित बाध ज्ञान को ही प्रतिबंधक कहोगे तो बाध ज्ञान के प्रमात्वज्ञान का कुछ उपयोग ही न रहा?

उ. नहीं, किसी को बाध ज्ञान होने के बाद उसमें भ्रमत्व की शंका हो, उस शंका के नाश में प्रामाण्य ज्ञान का उपयोग होगा।

→पू. बाध के स्थल में यदि हेतु हो तो व्यभिचार और पक्ष में हेतु न हो तो स्वरूपासिद्धि ही दोष है। अतः बाध को स्वतंत्र दोष मानने की आवश्यकता नहीं है।

उ. ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि व्यभिचारज्ञानादि से बाधज्ञान भिन्न है। व्यभिचार दोष व्याप्तिज्ञान का और स्वरूपासिद्धि परामर्श का प्रतिबंध करता है जबकि बाध दोष अनुमिति का प्रतिबंध करता है।

पू. किंतु जहाँ बाध दोष होगा, वहाँ व्यभिचार या स्वरूपासिद्धि से पहले ही अनुमिति रुक जाएगी तो बाध दोष क्या करेगा?

उ. किञ्च ... प्रतिबन्धकत्वं ⇒ जब कोई व्यक्ति भूल से गलत व्याप्ति और परामर्शज्ञान कर अनुमिति करने जाएगा, तब परामर्शज्ञान के बाद बाध दोष, उस अनुमिति को रोकेगा। eg. कोई 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' ऐसा अनुमान करता है। गलती से उसे 'वह्निव्याप्यधूमवान् ह्रदः' ऐसा गलत परामर्श हो गया। अब यदि स्वरूपासिद्धि दोष तो अकिंचित्कर हो गया। अतः उसे यदि अब बाध ज्ञान हो तो अनुमिति रुक जाएगी।

ऐसे ही 'वह्निः अनुष्णः द्रव्यत्वात्' में किसी ने अनुष्णत्व और द्रव्यत्व की व्याप्ति भूल से मान ली। अब यहाँ व्यभिचार दोष अकिंचित्कर होने से यदि उसे बाध का ज्ञान हो तो अनुमिति रुक सकती है।

एवं ... ⇒ ~~सभी जगह~~ जहाँ बाधदोष हो, वहाँ सभी जगह व्यभिचार या स्वरूपासिद्धि में से एक हो ही, ऐसा जरूरी नहीं है। उ.: उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नघटः गन्धवान् पृथ्वीत्वात् इस अनुमान में पृथ्वीत्व और गन्ध की व्याप्ति भी है, 'गन्धव्याप्यपृथ्वीत्ववान् घटः' ऐसा परामर्श भी होगा। [किंतु प्रथम क्षण के घट में गंध नहीं होती क्योंकि उत्पन्न हुई वस्तु एक क्षण निर्गुण रहती है। अतः यहाँ 'उत्पन्नक्षणावच्छिन्नघटः गन्धाभाववान्' ऐसा बाधज्ञान हो तो ही यह अनुमिति रुक सकती है।]

(पू. पक्ष ऐसे घट में गंध होने से बाध दोष कैसे होगा?

(उ. पक्षतावच्छेदक ऐसे देश और काल के अवच्छेद से भी अनुमिति होती है, ऐसा अनुभव सिद्ध है। अतः यहाँ कालावच्छेदेन अनुमिति है।

→पू. बाध की तरह साधारण-असाधारणादि भी हेत्वाभास हैं, उन्हें भी स्वतंत्र मानो?

उ. बाध और सत्प्रतिपक्ष से भिन्न जो अनैकान्तिकादि हेत्वाभास हैं, उनके व्याप्य हेत्वाभासों को इनमें ही अन्तर्भूत कर दिया है। ऐसा न मानो तो हेत्वाभास अधिक होने की आपत्ति होगी।

पू. ऐसे तो सत्प्रतिपक्ष भी बाध का व्याप्य है, अतः इसे बाध में अन्तर्भूत मानो?

उ. नहीं क्योंकि शिष्य की बुद्धि की विशदता के लिए स्वतंत्र इच्छा वाले गौतम ऋषि ने उसे अलग ही कहा है।

→पू. सत्प्रतिपक्ष के स्थल में भी यदि हेतु हो तो व्यभिचार और हेतु न हो तो स्वरूपासिद्धि दोष हो सकता है। अतः सत्प्रतिपक्ष को भी इन दो में अन्तर्भूत मान लो?

उ. सत्प्रतिपक्षव्याप्यस्तु न प्रतिबन्धकः ⇒ ऐसे सत्प्रतिपक्ष के स्थल में सत्प्रतिपक्ष के व्याप्य व्यभिचारादि अनुमिति के प्रतिबंधक नहीं होते किंतु सत्प्रतिपक्ष ही होता है क्योंकि सत्प्रतिपक्ष के स्थल में सत्प्रतिपक्ष दोष का ज्ञान पहले होता है और व्यभिचारादि का ज्ञान बाद में होता है तथा पहले होने वाले सत्प्रतिपक्ष के ज्ञान से ही अनुमिति का प्रतिबंध हो जाता है। अतः वह हेत्वाभास है।
उ., कोई 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' अनुमान कर रहा है, तभी किसी दूसरे ने उसे कहा 'ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्'। अतः यहाँ सत्प्रतिपक्ष दोष हुआ और उसकी अनुमिति अटक गई। इसके बाद उसे सोचने पर व्यभिचार अथवा स्वरूपासिद्धि का ज्ञान होगा। अतः अनुमिति पहले सत्प्रतिपक्ष से ही रुकने से वह स्वतंत्र दोष है।

★ [अब मूल कारिका में प्राचीन नैयायिकों के मत से हेत्वाभास का निरूपण करते हैं-]
का.-13 → सपक्ष और विपक्ष में रहने वाला हेतु साधारण हेत्वाभास है। सपक्ष यानि जिसमें साध्य का निश्चय हो। विपक्ष यानि जिसमें साध्य का अभाव हो।
इस लक्षण में यदि 'सपक्ष' नहीं लिखते मात्र 'विपक्षवृत्तिः साधारणः' लक्षण बनाते तो विरुद्ध हेत्वाभास में अतिव्याप्ति होती। क्योंकि विरुद्ध हेत्वाभास मात्र विपक्ष में रहता है जबकि साधारण हेत्वाभास सपक्ष में भी रहता है। अतः वहाँ अतिव्याप्ति

का वारण करने के लिए 'सपक्ष' पद भी जोड़ा।
वस्तुतः यहाँ लक्षण में मात्र विपक्ष में रहने वाले हेतु को ही साधारण कहना चाहिए क्योंकि विरुद्ध हेतु साधारण होने पर भी (विपक्षवृत्ति होने पर भी) इसका दूषकता बीज अत्यग होने से साधारण हेत्वाभास से वह अत्यग होगा। विरुद्ध हेतु विपक्ष में रहता है किंतु वह साध्य के असामानाधिकरण्य के निश्चय का प्रतिबंधक है जबकि साधारण व्याप्तिज्ञान का प्रतिबंधक है। अतः मात्र 'विपक्षवृत्ति' लक्षण होने पर भी दोनों अत्यग होते।
असाधारण हेत्वाभास ⇒ जो हेतु ~~सपक्ष~~ सपक्ष-विपक्ष दोनों से व्यावृत्त हो। सपक्ष यानि साध्यवाले रूप में निश्चित और विपक्ष यानि साध्य रहित रूप में निश्चित।
'शब्दः अनित्यः शब्दत्वात्' अनुमान में जब शब्द में अनित्यत्व का संदेह है, तब घटादि सपक्ष है, और शब्दत्व हेतु उनमें नहीं रहता; इसलिए वह असाधारण हेतु है। जब अन्य किसी हेतु (कृतकत्व) से शब्द में अनित्यत्व का निश्चय हो जाएगा तब वह असाधारण हेतु नहीं है। यह प्राचीनों का मत है, नव्य नैयायिकों का मत पहले कहा गया। (Pg. No. 36 पर)
का. 74 → अनुपसंहारी ⇒ जिस हेतु का पक्ष केवलान्वयी हो अर्थात् जिस हेतु का पक्ष केवलान्वयी धर्म से अवच्छिन्न हो। 'सर्वं अभिधेयं प्रमेयत्वात्' जैसे अनुमान में सब-कुछ पक्ष ही होने से सामानाधिकरण्य के ग्रहण के लिए अन्य स्थल का अभाव होने से अनुमिति नहीं होती।
(नव्य नैयायिक) यह बराबर नहीं है क्योंकि पक्ष के एक देश में जहाँ साध्य का निश्चय हो वहाँ ही हेतु-साध्य के सहचार के ग्रहण में क्षति नहीं है। eg. उपर्युक्त अनुमान में "सर्व पक्ष के एक देश रूप घटादि में साध्य अभिधेयत्व और हेतु प्रमेयत्व की व्याप्ति का निश्चय करलेना चाहिए। (प्राचीन) जब 'सर्व' में साध्य का संदेह है तो घटादि में भी संदेह होगा। (नव्य) अथवा सहचार (व्याप्ति) के ग्रहण न करने को छोड़ दो तो भी अज्ञानरूप आसिद्धि ही अनुमिति रुकने का कारण है अर्थात् अनुमाता के व्याप्ति का ज्ञान न होने से अनुमिति रुकती है। इसमें हेतु का दोष नहीं है। अतः हेत्वाभास नहीं है। तो भी केवलान्वयी साध्यवाला होना अनुपसंहारी का लक्षण कहा गया है।
व विरुद्ध ⇒ जो हेतु साध्यवद् में नहीं ही होता है, वह विरुद्ध। एवकार द्वारा साध्यवत्त्वावच्छेदेन हेतु का अभाव कहा है। इससे असाधारण हेत्वाभास में अतिव्याप्ति दूर हुई। असाधारण हेतु ~~सपक्ष~~ और साध्यवद् और साध्यवदन्य दोनों में नहीं रहता। यदि विरुद्ध का लक्षण ऐसा बनाते-'साध्यवद् में न रहने वाला' तो असाधारण में अतिव्याप्ति होती क्योंकि साध्यवद् में तो वह भी नहीं रहता। अतः एवकार पद लिखा, जिससे ऐसा लक्षण होगा - साध्यवद् में नहीं ही रहता, साध्याभाववद् में रहता हो या न हो।
इस कारण से इसका लक्षण - साध्य का व्यापक ऐसा अभाव, इस अभाव का अप्रतियोगी हेतु हो, वह विरुद्ध। (साध्यव्यापकीभूताभावाप्रतियोगी)
का. 75 → आसिद्धि 3 प्र. की है - आश्रयासिद्धि, स्वरूपासिद्धि व्याप्यत्वासिद्धि।
का. 76 → पक्षासिद्धि जहाँ पक्ष में पक्षतावच्छेदक न हो eg. मणिमय गिरि।
स्वरूपासिद्धि eg. ह्रदो ह्रदत्वं धूमवत्त्वात्।

का:71 व्याप्यत्वासिद्ध नित्यधूमात् हेतु में होता है। नित्यधूमत्व गुरुधर्म होने से हेतुतावच्छेदक नहीं है। क्योंकि व्याप्यतावच्छेदक यानि हेतुतावच्छेदक वही धर्म होता है जो स्वसमानाधिकरण ऐसे अन्य व्याप्यतावच्छेदक (हेतुतावच्छेदक) से अघटित हो अर्थात् उसके अंदर समावेश न होता हो। यहाँ नीलधूमत्व धर्म स्वसमानाधिकरण ऐसे धूमत्व रूप हेतुतावच्छेदक से घटित है। अतः वह हेतुतावच्छेदक नहीं बन सकता।

प्र. यहाँ स्वसमानाधिकरण क्यों लिखा है?

उ. धूम के प्रागभावत्व के संग्रह के लिए स्वसमानाधिकरण लिखा है। कोई अनुमान करे- 'अयं वह्निमान् भविष्यति धूमप्रागभावात्'। यहाँ धूमप्रागभावत्व धूम से घटित धर्म होने से वह हेतुतावच्छेदक नहीं बनता। अतः हेत्वाभास होने से अनुमिति रुक जाती। किंतु यह धर्म भी हेतुतावच्छेदक बनता है और अनुमिति सही होती है। अतः उसमें लक्षण न जाने से अव्याप्ति हो रही थी। इसके निवारण के लिए लक्षण में स्वसमानाधिकरण पद जोड़ा। धूमप्रागभावत्व धूमत्व का समानाधिकरण नहीं है। अतः यह लक्षण उसमें चला जाता है।

सत्प्रतिपक्ष = दो विरुद्ध हेतु का परामर्श होने पर सत्प्रतिपक्षता दोष होता है।

प्र. लक्षण में विरुद्ध क्यों लिखा?

उ. कोई 'वृक्षः कपिसंयोगी, इतरद्वृक्षत्वात्' अनुमान करे, तब कपिसंयोगाभाव अव्याप्यवृत्ति होने से कपिसंयोग और उसके अभाव के व्याप्यवत्ता के परामर्श में भी सत्प्रतिपक्षत्व नहीं है, क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं नहीं है। अतः इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए विरुद्ध पद जोड़ा।

इस कारण से परिष्कृत लक्षण बताते हैं:- स्व= वह हेतु जिसमें सत्प्रतिपक्ष दोष बताना है, उस हेतु के साध्य के विरुद्ध ऐसे साध्याभाव के व्याप्यवत्ता के परामर्श के काल में ही साध्य के व्याप्यवत्ता के परामर्श का विषय रूप हेतु सत्प्रतिपक्ष है।

का:78 जहाँ साध्य से शून्य पक्ष हो, वह बाध हेत्वाभास कहा गया है। उ. उत्पत्तिकालीन घट में गंधादि की सिद्धि करना।

पक्ष यहाँ पक्षतावच्छेदक से विशिष्ट लेना है। यदि ऐसा विशिष्ट पक्ष न लो तो सामान्य घट में गंधादि होने से वहाँ अतिव्याप्ति होती अर्थात् उसमें लक्षण नहीं जाना चाहिए तो भी लक्षण चला जाता। विशिष्ट पक्ष लेने से वहाँ लक्षण नहीं जाता क्योंकि उत्पत्तिक्षण रूप काल पक्षतावच्छेदक बनेगा।

(अब देश पक्षतावच्छेदक का दृष्टांत →) मूर्त्तावच्छिन्नः वृक्षः कपिसंयोगी' इस अनुमान में भी ऐसा समझना। यहाँ भी पक्षतावच्छेदक से विशिष्ट पक्ष लेने से अतिव्याप्ति दूर हुई।

(i) (Pg.No. 37) यहाँ 'सर्व' पक्ष है अतः पक्ष से अतिरिक्त विपक्ष कुछ है ही नहीं। अतः व्याप्ति का निर्णय नहीं होता। ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान रुक जाता है।

(iii) (Pg.No. 35) आहार्य ज्ञान अनुमिति नहीं किंतु जहाँ पक्ष-हेतु-साध्य जैसा आकार दिखे वहाँ अनुमिति का लक्षण जाना चाहिए ऐसा संप्रदाय से चला आ रहा है। अतः यहाँ भी हेत्वाभास का लक्षण घटना चाहिए किंतु वह घटता नहीं है।

(ii) (Pg.39) - व्याप्यत्वासिद्ध यानि सोपाधिक हेतु, व्यभिचारी हेतु। जबकि साध्यासिद्ध यानि साध्य में साध्यतावच्छेदक का अभाव, साधनासिद्ध यानि हेतु में हेतुतावच्छेदक का अभाव।

यहाँ साध्यासिद्धि और साधनासिद्धि का व्याप्यत्वासिद्धि में समावेश नहीं हो सकता क्योंकि दोनों एकदम अलग। यहाँ कैसे अन्तर्भूत किया है, इसकी स्पष्टता किरणावली टीका में भी नहीं है। दूसरी ओर साध्यासिद्धि से परामर्श का, साधनासिद्धि से व्याप्तिज्ञान का प्रतिबंध कहा गया है। साधनासिद्धि से व्याप्तिज्ञान के प्रतिबंध का कारण किरणावली में ऐसा दिया है - व्याप्ति ज्ञान में हेतुतावच्छेदकविशिष्ट हेतु होना चाहिए, किंतु वह न होने से व्याप्ति रुक जाती है। तो प्रश्न यह होता है कि साध्यासिद्धि में भी साध्यतावच्छेदक विशिष्ट साध्य न होने से व्याप्ति ज्ञान क्यों नहीं ~~रुक~~ अटकता, परामर्श क्यों रुकता है? इसकी स्पष्टता भी किरणावली में नहीं है।

उपमान खण्ड

का. 79-80 → किसी जंगल वाले ने ग्रामीण को कहा कि 'गोसदृशः गवयपदवाच्यः' गाय समान दिखने वाली को गवय शब्द से कहा जाता है' बाद में ग्रामीण ने कहीं जंगल में गवय देखा, वहाँ उसे गोसादृश्य का जो दर्शन हुआ वह उपमिति का करण है। उसके बाद 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' ऐसे अतिदेश वाक्य के अर्थ का जो स्मरण हुआ, वही व्यापार है। उसके बाद 'गवयः गवयपदवाच्यः' ऐसा जो ज्ञान हुआ, वह उपमिति है।

करण = गोसादृश्य दर्शन।
व्यापार = 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' अतिदेश वाक्य का स्मरण।
उपमिति = गवयः गवयपदवाच्यः।

प्र. 'अयं गवयपदवाच्यः' ऐसी उपमिति क्यों नहीं होती?

उ. गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावप्रसङ्गात् ⇒ उपमिति यानि गवय में गवय पद की शक्ति का निश्चय होता है 'अयं' इदन्त्वावच्छिन्नविशेष्यता का निश्चय है, गवयत्वावच्छिन्न नहीं। अतः ऐसी उपमिति होने से इदन्त्व वाले इस एक गवय में ही गवय पद की वाच्यता का निर्णय होता, सभी गवय में नहीं। किंतु ऐसा नहीं है। एक ही गवय में उपमिति होने से सभी गवयों में गवय पद की वाच्यता का निर्णय हो जाता है। अतः सभी गवयों को विशेष्य बनाकर 'गवयत्वावच्छिन्नविशेष्यताक-गवयः गवयपदवाच्यः' ऐसी उपमिति मानना आवश्यक है।

★ उपमिति उ. की है-

1. सादृश्यपिंडदर्शन = ऊपर कहा गया।
2. असाधारणधर्मविशिष्टपिंडदर्शन = 'जिसे नाक पर एक सींग होता है, वह खड्गी मृग कहलाता है' ऐसे असाधारण धर्म को पिंड में देखकर होने वाली उपमिति।
3. वैधर्म्यविशिष्टपिंडदर्शन = विरुद्ध धर्मों से विशिष्ट पिंड को देखकर होती उपमिति। उ. कर-शृंग-पक्ष-खुर वि. से रहित सिंह होता है।

का.8। पदज्ञान करण है, पदार्थ की बुद्धि व्यापार है, शाब्दबोध फल है, शक्तिधी सहकारी है।

★ यहाँ पद(शब्द) का ज्ञान करण है।

प्राचीन नैयायिक ज्ञायमान पद को ही करण मानते हैं अर्थात् श्रावण प्रत्यक्ष से ज्ञात होते हुए पद ही करण है। नव्य नैयायिक- ऐसा नहीं है क्योंकि मौनी साधु द्वारा बनाए श्लोकों को पढ़कर पद के (श्रावण प्रत्यक्ष के विषय रूप पद) के अभाव में भी शाब्द बोध तो होता ही है। अर्थात् शाब्द बोध मात्र श्रावण प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात पद से नहीं होता किंतु पढ़ने से या इशारे से भी श्रावण प्रत्यक्ष होता है। अतः नव्य नैयायिक के मत में 2 प्र. का पदज्ञान-

1. श्रावणप्रत्यक्ष-कान से सुने हुए शब्द।
2. स्मरणात्मक - पढ़े हुए शब्द या किसी इशारे से ज्ञात हुए शब्द।

★ पदार्थधी यानि शब्द सुनकर उस शब्द से वाच्य-वाचकभाव द्वारा जुड़े हुए पदार्थ का स्मरण। ~~अर्थात्~~ उ. 'घट' शब्द के ज्ञान से घड़ा स्मृति में आना। पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः ⇒ यह पदार्थ का स्मरण उपर्युक्त पदज्ञान से ही होना चाहिए, तब वह व्यापार बनता है। यदि पदज्ञान बिना ही पदार्थ का स्मरण होगा तो वह शाब्द बोध का व्यापार नहीं होगा। इसलिए यहाँ 'पदजन्य' जोड़ा

प्र. आप पदार्थ स्मरण को व्यापार कहते हो। व्यापार की परिभाषा है - 'तज्जन्यत्वं सति तज्जन्यजनकत्वं'। अतः इस परिभाषा से ही यह सिद्ध होगा कि जो पदार्थस्मरण व्यापार है, वह पदज्ञान से ही जन्य होगा। अतः पुनः 'पदजन्य' विशेषण लिखने की क्या आवश्यकता है?

उ. 'पदजन्यत्व' धर्म कालिक संबंध से ~~पदज्ञान~~ पदार्थस्मरण में रहता है क्योंकि पद कालिक संबंध से सभी सर्वत्र रहते हैं। अतः कालिक संबंध से पदार्थस्मरण पदजन्य होगा और ऐसे पदार्थस्मरण से भी शाब्द बोध होने की आपत्ति होगी। अतः इस आपत्ति को दूर करने व्यापार के लक्षण में 'तज्जन्यत्व' होने पर भी पुनः 'पदजन्य' विशेषण जोड़ा।

पू. पदार्थस्मरण पदजन्य होने की आवश्यकता क्या है? यदि पदजन्य न माने तो?

उ. यदि पदार्थस्मरण पदजन्य न लो तो तो प्रत्यक्षादि से पदार्थ उपस्थित होने पर पदज्ञान वाले पुरुष को शाब्द बोध होने की आपत्ति होगी। अर्थात् जिसे 'घट' पद का ज्ञान है, ऐसे पुरुष को घट का प्रत्यक्ष होने पर पदार्थ ज्ञान होने से शाब्द बोध होने की आपत्ति ~~है~~ होगी। किंतु ऐसा शाब्द बोध न होने से उसके निवारण के लिए 'पदजन्य' विशेषण आवश्यक है।

पू. किसी ने घट पद सुना। उस पद से समवाय संबंध द्वारा आकाश का स्मरण हुआ। यह आकाश पदार्थ का ज्ञान घट पद के ज्ञान से जन्य है। अतः आपका लक्षण घट जाने से उसे शाब्दबोध ~~नहीं~~ होने की आपत्ति होगी।

उ. वृत्त्या पदजन्यत्वं ⇒ इस लक्षण में भी पदजन्यत्व वृत्ति संबंध से जानना। वृत्ति संबंध शक्ति या लक्षणा में से कोई एक होता है। यह संबंध लेने से उपर्युक्त अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि घट पद से वृत्ति संबंध से आकाश का स्मरण नहीं होने से उसके शाब्दबोध की की आपत्ति नहीं होगी।

पू. तो वृत्ति संबंध जैसे पदार्थ स्मरण का कारण है, वैसे ही शाब्दबोध का कारण है?

उ. नहीं, वृत्ति संबंध का उपयोग मात्र पदार्थ स्मरण में ही है। शाब्दबोध के लिए वह अन्यथासिद्ध है।

पू. वृत्तिज्ञान पदार्थस्मरण का कारण क्यों है?

उ. पूर्वं शक्तिग्रहाभावे ... ⇒ पहले यदि शक्ति (वाच्य-वाचक भाव) ग्रहण न किया हो तो पदज्ञान होने पर भी घट का स्मरण उत्पन्न नहीं होता। अतः शक्ति उसका कारण है।

पू. तो पदार्थ स्मरण में वृत्ति संबंध का ज्ञान ही कारण मानो, पदज्ञान को कारण मानने की जरूर नहीं है।

उ. पदज्ञानस्य हि ... ⇒ नहीं क्योंकि पदज्ञान के बिना भी पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। पदार्थ स्मरण के लिए पद ज्ञान और पद में रही शक्ति (वाच्य-वाचक संबंध) का ज्ञान, दोनों जरूरी है।

किसी भी संबंध के 2 अंत (छेड़े / end) होते हैं। eg. वाच्य-वाचक संबंध के 2 end शब्द और पदार्थ हैं। अतः 'एकसंबंधीज्ञानं अपरसम्बन्धिस्मारकं भवति' अर्थात् किसी भी संबंध के एक संबंधी का ज्ञान होता है तो ~~उस~~ वह ज्ञान दूसरे संबंधी (end) को स्मरण में लाता है, इस न्याय से पदज्ञान पदार्थ को उपस्थित करता है।

★ शक्ति यानि पद के साथ पदार्थ का संबंध (वाच्य-वाचक भाव)। वह शक्ति 'इस पद से यह अर्थ जानना' ऐसी ईश्वर की इच्छा रूप है।

पू. पूर्व से प्रचलित नाम में ईश्वर की इच्छा मान सकते हैं किंतु जो वाचक वि. के नए नाम रखते हैं उनमें ईश्वरेच्छा कैसे मानोगे क्योंकि वह तो नित्य है?

उ. आधुनिक नाम में भी ईश्वरेच्छा रूप शक्ति है ही क्योंकि 'एकादशे ऽहनि पिता नाम कुर्यात्' 11वें दिन पिता नाम रखे, ऐसी उक्ति ईश्वर की इच्छानुसार है।

पू. नए नाम में ऐसे ईश्वरेच्छा मान सकते हैं किंतु जो आधुनिक संकेत हैं जैसे- इत्-लुक् वि. संकेत पाणिनि वि. ने किए, उनके पहले ये संकेत/संज्ञा नहीं थे। अतः ऐसे आधुनिक संकेतों में ईश्वरेच्छा कैसे मानोगे?

5. इन आधुनिक संकेतों में ईश्वरेच्छा रूप शक्ति नहीं है। अतः उस शक्ति के भ्रम से उनके द्वारा पदार्थ बोध होता है। ऐसा संप्रदाय है।
[ऐसे प्राचीन नैयायिक ईश्वरेच्छा रूप शक्ति मानते हैं, मात्र आधुनिक संकेतों में शक्ति नहीं मानते। अब नव्य नैयायिक का मत-]
नव्य तो ऐसा कहते हैं- ईश्वरेच्छा शक्ति नहीं है किंतु इच्छा ही शक्ति अर्थात् वक्ता की इच्छा('इस शब्द-संकेत से यह अर्थ जानना') ही शक्ति। अतः आधुनिक संकेतों में भी शक्ति है ही।
[इत्याहुः कर यह मत लिखने से स्पष्ट है कि यह मत मुक्तावलीकार को मान्य नहीं है।]

★ शक्ति का ग्रहण तो व्याकरण वि. से होता है-
शक्तिग्रह के 9 से होता है- 1. व्याकरण 2. उपमान 3. कोश 4. आप्तवाक्य 5. व्यवहार 6. वाक्यशेष 7. विवृत्ति 8. सिद्धपद के सांनिध्य से शक्तिग्रह होता है। इस प्रकार वृद्ध कहते हैं।

1. व्याकरण से शक्तिग्रह ⇒ धातु- प्रकृति- प्रत्ययादि का शक्तिग्रह व्याकरण से होता है। कहीं पर बाधक होने पर छोड़ दिया जाता है अर्थात् वैयाकरणों के मत में हमें कुछ बाधक होता है, उसे छोड़ देते हैं। जैसे- वैयाकरण क्रियापद की शक्ति कर्ता में कहते हैं, 'चैत्रः पचति' में चैत्र का कर्ता के साथ अभेद करते हैं। अर्थात् क्रियापद में रहे 'ति' प्रत्यय का अर्थ कर्ता है। अतः 'ति' की शक्ति चैत्र से अभिन्न ऐसे कर्ता में रही है। इसलिए ति प्रत्यय से कर्ता अभिहित हो जाने से चैत्र को नाममात्र की प्रथमा विभक्ति हुई है। अतः वैयाकरणों के मत में 'शाब्दबोध धात्वर्थविशेष्यक यानि धातु के अर्थ को मुख्य विशेष्य बनाकर होगा- चैत्राभिन्नकर्तृकपाकः।
(विशेषण) (विशेष्य)
(गौरवात्त्यज्यते) (नैयायिक का मत) यदि ति की शक्ति कर्ता में मानोगे तो गौरव होगा क्योंकि-

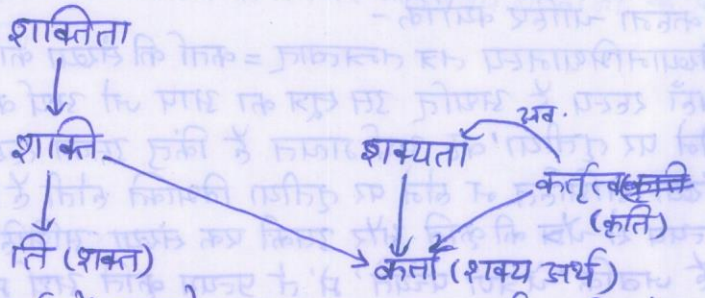

ति की शक्ति कर्ता में मानने पर उसका शक्य अर्थ कर्ता बनेगा। कर्ता में रही शक्यता का अवच्छेदक कर्तृत्व बनेगा। यह कर्तृत्व ही कृति है क्योंकि कर्तृत्व

यानि कर्ता का भाव, स्वरूप और कृति यानि कर्ता के अंदर क्रिया के तुरंत पहले होने वाला प्रयत्न। अतः ~~कृति~~ कृति भी कर्ता के भाव रूप होने से कर्तृत्व है। अतः शक्यतावच्छेदक कृति बनेगी। कृति तो अनंत है क्योंकि क्रियाएँ और कर्ता अनंत है। अतः शक्यतावच्छेद अनंत होने से बहुत गौरव होगा। गौरव होने से वैयाकरण के इस मत को छोड़ देते हैं।

अतः हम गौरव होने से ति की शक्ति कर्ता में नहीं मानते किंतु लाघव होने से कृति में मानते हैं क्योंकि कृति में शक्ति रहेगी तो शक्य अर्थ कृति बनेगी, जिससे शक्यतावच्छेदक कृतित्व जाति एक ही होगी, अनंत नहीं।

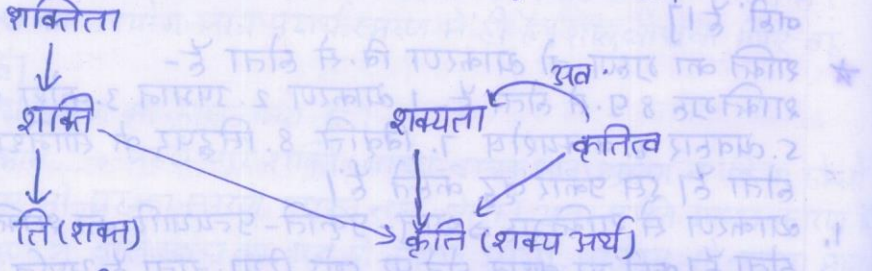

यह कृति ही चैत्रादि में प्रकार यानि विशेषण बनकर भासित होती है।

अतः नैयायिकों के मत में शाब्दबोध्य प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक यानि प्रथमान्त नाम को मुख्य विशेष्य बनाकर होता है -

पाकानुकूलकृतिमान् चैत्रः
↑ विशेषण ↑ विशेष्य

पू. (वैयाकरण -) ~~ऐसे~~ यदि ति प्रत्यय से कर्ता अभिहित नहीं होगा और कृति अभिहित होगी तो 'अनभिहिते कर्तरि तृतीया' ऐसे व्याकरण के सूत्र से चैत्र को तृतीया विभक्ति होना चाहिए।

उ. (नैयायिक -) कर्ता के अनभिधान से चैत्रादि पद के बाद तृतीया होगी ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि -

कर्तृसंख्यानभिधानस्य तत्र तन्त्रत्वात् = कर्ता की संख्या का अभिधान न होने का वहाँ रहस्य है अर्थात् उस सूत्र का आप जो अर्थ करते हो 'कर्ता अभिहित न होने पर तृतीया' वह अर्थ गलत है किंतु उसका रहस्य ऐसा है कि कर्ता की संख्या अभिहित न होने पर तृतीया विभक्ति होती है। अतः 'चैत्रः पचति' में ति प्रत्यय से चैत्र की कृति और उसकी एक संख्या अभिहित हो जाने से प्रथमा हुई है जबकि 'चैत्रेण पच्यते' में त प्रत्यय कृति अर्थ में नहीं किंतु कर्मत्व अर्थ में है, अतः यहाँ कर्ता की संख्या अनभिहित होने से तृतीया की है।

पू. आख्यात से किसकी संख्या अभिहित होगी, इसका नियामक कौन?

उ. संख्याभिधानयोग्यश्च कर्मत्वाद्यनवरूढः प्रथमान्तपदोपस्थाप्यः ⇒ जो पद कर्मत्वादि से अनवरूढ हो अर्थात् कर्मत्व-करणत्व वि. धर्मों से रहित हो और प्रथमान्त पद से उपस्थाप्य हो, उसका संख्याभिधान होता है। eg. 'चैत्रः तण्डुलं पचति' में 'चैत्र' पद कर्मत्वादि से रहित है और प्रथमान्त से उपस्थाप्य है इसलिए ~~उसे प्रथमा की है।~~ उसकी संख्या अभिहित होने से प्रथमा की है।

पू. इस लक्षण में 'कर्मत्वादि अनवरूढ' नहीं लिखते तो क्या आपत्ति ~~थ~~ होगी?

उ. 'चैत्रः तण्डुलः पचति' ऐसे वाक्यात्मक प्रयोग में 'तण्डुल' पद प्रथमान्तपद उपस्थाप्य तो हो गया किंतु वह कर्मत्व से अवच्छिन्न है। अतः इस विशेषण से उसका संख्याभिधान नहीं होगा। (अर्थात् तण्डुल पद किसी अन्य प्रयोग में प्रथमान्त भी होता है, अतः वह प्रथमान्त पद उपस्थाप्य तो हो गया, अतः उसकी संख्या का अभिधान होने की आपत्ति होती किंतु 'कर्मत्वादि अनवरूढ' विशेषण से उसमें अतिव्याप्ति नहीं हुई। इसलिए यह विशेषण जरूरी है।)

[यहाँ कर्मत्वादि से सभी 6 कारक ~~थ~~ ग्रहण करना है - कर्मत्व, कर्तृत्व, करणत्व, संप्रदानत्व अपादानत्व, अधिकरणत्व। कारक के विभक्ति अनुसार क्रम में 'कर्मत्व' सबसे पहले आता है क्योंकि प्रथमा विभक्ति नाममात्र को होती है, ~~और~~ द्वितीया कर्म को होती है और कर्ता को तृतीया होती है। इसलिए यहाँ समास में 'कर्मत्वादि' कहा है। अतः कर्मत्वादि से अनवरूढ यानि जो कर्मत्वादि से अवच्छिन्न न हो, जिसका कर्मत्वादि उक्त हो गया हो और प्रथमान्तपद उपस्थाप्य यानि जिसे प्रथमा विभक्ति की जा सकती हो, ऐसे पद का संख्याभिधान हो जाता है। संख्या-अभिधान होने से उसे नाममात्र में प्रथमा विभक्ति की जाती है।]

पू. इस लक्षण में भी आपत्ति है :- 'चैत्र इव मैत्रो गच्छति' में 'चैत्र' पद कर्मत्वादि से अवच्छिन्न नहीं है और प्रथमान्त पद उपस्थाप्य भी है। अतः उसका संख्याभिधान होने की आपत्ति होगी।

उ. कर्मत्वादीत्यस्येतरविशेषणत्वेन तात्पर्यविषयत्वमर्थः ⇒ 'कर्मत्वादि अनवरूढ' पद का अर्थ 'इतरविशेषण रूप से तात्पर्य का विषय न होना' ~~थ~~ है अर्थात् कर्मत्वादि 6 कारक

[ऐसे नैयायिकों ने वैयाकरणों की मान्यता 'शक्ति कर्त्ता में है' उसका खंडन किया और आख्यात की शक्ति कृति में सिद्ध करी।
अब आख्यात की शक्ति व्यापार में मानने वाले मीमांसक के मत का खंडन -]

पू. (मीमांसक) यदि आख्यात की शक्ति कृति मानोगे तो 'रथो गच्छति' में शाब्द-बोध 'उत्तरदेशसंयोगानुकूलकृतिमान् रथः' ऐसा होगा। पर तो योग्य नहीं है क्योंकि कृति तो चेतन का धर्म है, जड़ का नहीं। अतः जड़ रथ में कृति नहीं रहने से यह अर्थ घटेगा नहीं।

उ. (नैयायिक) ऐसी जगह पर कृति की व्यापार में लक्षणा करेंगे। अतः वहाँ कृति की जगह व्यापार में शक्ति मानेंगे। तो शाब्दबोध ऐसा होगा - उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारवान् रथः।

पू. ऐसे व्यापार में कृति की लक्षणा करने के गौरव से अच्छा है कि आख्यात की शक्ति व्यापार में ही मान लो।

उ. व्यापारेऽपि न शक्तिगौरवात् ⇒ व्यापार में आख्यात की शक्ति मानने पर भी गौरव है क्योंकि व्यापार की परिभाषा है - 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं'। अतः पहले व्यापार को जानने के लिए उसके जन्य-जनक को भी जानने में गौरव है। इसकी जगह कृति सीधे ही ग्रहण की जा सकती है। इसलिए कृति में ही आख्यात की शक्ति मानना चाहिए।

पू. तो फिर 'रथो गच्छति' जैसे स्थल में क्या करोगे?

उ. वहाँ कृति की व्यापार में लक्षणा करेंगे। 'गमनानुकूलकृतिमान् रथः' की जगह 'गमनानुकूलव्यापारवान् रथः' ऐसा शाब्दबोध होगा।

पू. [रथ बनाने के लिए तक्षक यानि सुथार जो रथ के Parts के संयोग करता है अर्थात् उन्हें जोड़ता है, उसे तक्षकादिकर्तृकविभक्तिजन्यसंयोग कहा जाता है। यह संयोग भी व्यापार है। तक्षक रथ गमन के लिए बनाता है इसलिए यह व्यापार भी गमनानुकूलव्यापार है। यह गमनानुकूलव्यापार रथ चलता नहीं है, खड़ा रहता है तब तब भी उसमें होता है क्योंकि रथ के Parts के संयोग तो तब भी होते हैं। अतः उपर्युक्त लक्षणा की इस व्यापार में अतिव्याप्ति की शंका करते हैं -]
गमनानुकूलव्यापार तो तक्षककर्तृकविभक्तिजन्यसंयोग भी है। वह तो रथ चलता न हो तब भी होता है। अतः लक्षणा से तो रथ न चलता हो तब भी 'रथो गच्छति' प्रयोग होने की आपत्ति होगी।

उ. 'रथो जानातीत्यादौ तु व्यापारे आश्रयत्वे वा लक्षणा' ⇒ (व्यापार में लक्षणा कर ऊपर अतिव्याप्ति दिखाई। यहाँ अथवा में लिखे आश्रयत्व में लक्षणा

करते हैं-) तो फिर हम व्यापार की जगह आश्रयत्व में लक्षणा करेंगे। रथ जब चलता न होगा तब वह गमनाश्रयतावान् नहीं है। जब वह चलता है तभी गमनाश्रयतावान् होने से उसमें लक्षणा करने से 'रथो गच्छति' प्रयोग में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

पू. आपको भी लक्षणा-कल्पना का गौरव तो हुआ ना?

उ. यह फलमुखगौरव अर्थात् फल के अभिमुख होने से यह गौरव दुष्ट नहीं है।

[यदि व्यापार में ही शक्ति मानते तो सभी जगह गौरव होता। कृति में ही शक्ति मानने से और जरूर पड़ने पर जड़ वस्तु में ही व्यापार या आश्रयता में लक्षणा मानने से सभी जगह गौरव नहीं होगा।]

पू. आख्यात की शक्ति कृति में ही कहोगे तो 'चैत्रः घटं जानाति' में अन्वय कैसे होगा क्योंकि 'घटज्ञानानुकूलकृतिमान् चैत्रः' ऐसा अन्वय तो नहीं हो सकता। सभी व्यक्ति पहले जानते हैं, फिर इच्छते हैं, फिर यत्न (कृति) करते हैं, अतः ज्ञान के अनुकूल कृति संभव ही नहीं है।

उ. यहाँ आश्रयत्व में निरूढ़ लक्षणा करेंगे। इससे 'घटज्ञानाश्रयतावान् चैत्रः' ऐसा अन्वय होता है।

पू. 'घटो नश्यति' में अन्वय कैसे करोगे क्योंकि 'नाशानुकूलकृतिमान् घटः' ऐसा अन्वय नहीं हो सकता।

उ. यहाँ प्रतियोगिता में निरूढ़ लक्षणा करने से 'नाशप्रतियोगितावान् घटः' ऐसा अन्वय होगा। (निरूढ़ लक्षणा का लक्षण आगे कहेंगे।)

2. उपमान से शक्तिग्रह ⇒ उपमान से जैसे शक्तिग्रह होता है, वैसे कहा गया। (उपमान खंड में)।

3. कोश से शक्तिग्रह ⇒ कोश से भी शक्तिग्रह होता है किंतु बाधक होने पर कहीं छोड़ दिया जाता है। जैसे कोश में 'नीलादिपदों की शक्ति नीलरूप और नीलादि रूप से विशिष्ट द्रव्य में' कही है। इसमें गौरव है क्योंकि नीलादिरूपविशिष्ट द्रव्य में शक्ति मानो तो शक्य नीलादि रूप विशिष्ट द्रव्य बनेंगे और उसमें रही शक्यता का अवच्छेदक नीलादि रूप बनेंगे। ये रूप अनंत होने से गौरव है।

अतः लाघव से नीलादि रूप में ही शक्ति मानना चाहिए और नीलादि रूप विशिष्ट द्रव्य में तो लक्षणा करना चाहिए।

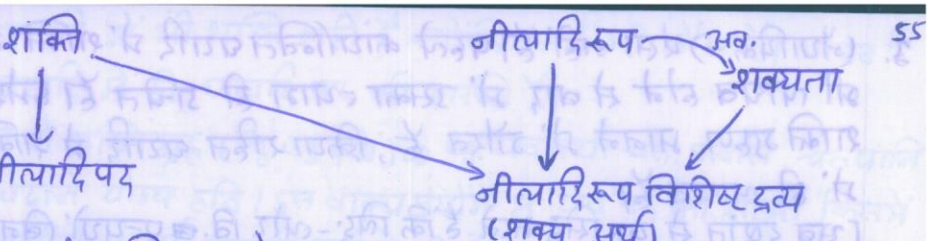

नीलादिरूप में शक्ति मानने पर शक्यतावच्छेदक नीलत्वादि जाति बनेगी। ये जाति एक होने से लाघव है।

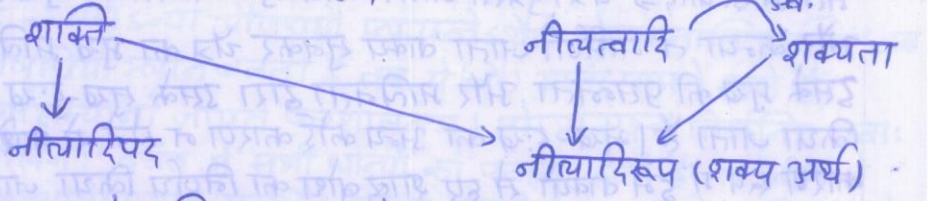

4. ~~वृद्ध~~ आप्यवाक्य से शक्तिग्रह ⇒ वृद्ध: कोकिल: पिकपदवाच्य: कोयल पिक पद से भी वाच्य है' इत्यादि आप्त के शब्दों से पिकादि पदों की कोकित्व में शक्ति ग्रहण होता है।

5. व्यवहार से शक्तिग्रह ⇒ [यहाँ 3 व्यक्ति हैं - 2 वृद्ध, 1 बाल। वृद्ध यानि जिन्हें पदों की शक्ति पता है, बाल यानि जो इनके व्यवहार से पद में शक्ति का ग्रहण करता है। वृद्ध 2 हैं - एक प्रयोजक (जो कार्य में दूसरे को जोड़ता है), दूसरा प्रयोज्य (जो प्रयोजक के कहने पर कार्य करता है)।]

एक प्रयोजक वृद्ध ने घटं आनय कहा। यह सुनकर प्रयोज्यवृद्ध ने घड़ा लाया। यह देखकर पास में रहा बाल 'घड़ा लाने की क्रिया घटं आनय शब्द से कही जाती है' ऐसा अवधारण करता है। (किंतु उसे यह स्पष्ट नहीं होता कि घड़े को घट से बोलते हैं या आनय पद से।)

फिर 'घटं नय गां आनय' इस वाक्य से वह बाल आवाप (कुछ पदों के ग्रहण) और उत्वाप (कुछ पदों के त्याग) के द्वारा यह निर्णय करता है कि घड़ा घट पद से वाच्य है। ऐसे वह घटादि पदों की शक्ति कार्यान्वित (किसी क्रिया से युक्त) घटादि में ग्रहण करता है।

पू. (मीमांसक मत -) ऐसे 'भूतले नीलो घटः' इत्यादि वाक्य से शाब्द बोध नहीं होगा। क्योंकि उसने घटादि पदों का सामर्थ्य कार्यान्वित घटादि में किया है और कार्यता का बोध लिङ्-लोट् वि. प्रत्ययों से होता है। ये प्रत्यय तो यहाँ है नहीं। इसलिए शाब्द बोध नहीं होगा।

उ. (नैयायिक –) ऐसा नहीं है। पहले कार्यान्वित पदादि में शक्ति ग्रहण होने पर भी लाघव होने से बाद में उसका त्याग ही उचित है। हमेशा वैसा ही शक्ति ग्रहण मानने में गौरव है, क्रिया रहित पदादि में शक्तिग्रह मानने में ही लाघव है।

[अब दृष्टांत से यह सिद्ध करते हैं कि लिङ्-लोट् वि. प्रत्ययों बिना भी शाब्दबोध होता है–]

अतएव इत्यादि ⇒ 'चैत्र! पुत्रस्ते जातः' वाक्य सुनकर चैत्र का मुख प्रसन्न होता है और 'कन्या ते गर्भिणी जाता' वाक्य सुनकर चैत्र का मुख मलिन होता है। इसके मुख की प्रसन्नता और मलिनता द्वारा उसके सुख-दुःख का अनुमान किया जाता है। सुख-दुःख का अन्य कोई कारण न होने से पारिशेष न्याय से कारण रूप में इन वाक्यों से हुए शाब्दबोध का निर्णय किया जाता है। उस शाब्दबोध में हेतु इन वाक्यों के शब्दों को मानते हैं। इन वाक्यों में लिङ्-लोट् वि. प्रत्ययों के बिना भी शाब्दबोध होने से आपके मत में व्यभिचार होगा। ऐसे व्यभिचार से सिद्ध है कि कार्यान्वित पदार्थ में शक्ति नहीं है।

पू. उक्त वाक्यों में 'तं पश्य' पद अध्याहार है। उसका अर्थ होगा – हे चैत्र! तू देख! तुझे पुत्र हुआ है या तेरी कन्या गर्भिणी हुई है। ऐसे यहाँ आज्ञार्थ क्रियापद होने से कार्यान्वित पदार्थ में ही शक्ति है।

उ. मानाभावात् ⇒ ऐसे अध्याहार में कोई प्रमाण नहीं है। सभी जगह ऐसा अनुभव नहीं होता। और 'चैत्र! पुत्रस्ते जातो मृतश्च' इस वाक्य में तो 'तं पश्य' का अध्याहार ही असंभव है क्योंकि पुत्र मरने पर उसे कैसे देख सकते हैं। अतः यहाँ व्यभिचार आने से भी यह अध्याहार नहीं है। और कार्यान्वित पदार्थ में शक्ति नहीं मानना पड़ेगी।

पू. [कुमारिल भट्ट कार्यान्वित पदार्थ में नहीं किंतु मात्र अन्वित पदार्थ 'घटः अस्ति' वि. में शक्ति मानते हैं। उनका मत–]

घट पद की शक्ति शुद्ध घट में नहीं है किंतु 'घटः अस्ति' ऐसे अन्वित पदार्थ में है। यदि ऐसा न मानो तो 'सत्तावान् घटः' ऐसा शाब्दबोध नहीं होगा।

उ. अन्वित घटादि में भी शक्ति नहीं है क्योंकि इसमें भी गौरव है। लाघव से शुद्ध घटादि में ही घटादि पद की शक्ति है।

6. वाक्यशेष से शक्तिग्रह (Pg.49 देखें) ⇒ यु. यवप्रयः चरुः भवति, चरु यानि देव को चढ़ाने योग्य हवि। इस वाक्य प्रयोग में यव पद की शक्ति किसमें मानना क्योंकि आर्य उसकी शक्ति दीर्घशूक (जौ) में कहते हैं और म्लेच्छ कंगु-चावल में कहते हैं? अतः यहाँ श्रुति और स्मृति के वाक्यशेष मिलते हैं- 'यदाऽन्या ओषधयो म्लायन्तेऽथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति' जब अन्य ओषधियाँ म्लान बनती हैं तब ये (जौ) आनंद पाप्ते रहते हैं। 'वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः' वसंत में सभी धान्यों का पतझड़ होता है तब बीज से शोभते जौ आनंद पाप्ते रहते हैं। इन दो वाक्यशेष से यव की शक्ति जौ में निश्चित होती है, कंगु-चावल में शक्तिभ्रम से प्रयोग होता है।

प्र. यव पद की शक्ति जौ और कंगु, दोनों में मान लें तो?

उ. अत्यंत-अत्यंत शक्ति मानने में गौरव है।

प्र. तो कोश में 'हरि' पद की शक्ति सिंह, वानर, इंद्र वि. अनेक में क्यों कही है?

उ. क्योंकि हरि वि. पदों में विनिगमक का अभाव है अर्थात् उस पद की शक्ति किसी एक ही पदार्थ में है, ऐसा निर्णय करने के लिए वाक्यशेष या अन्य कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए उसमें अनेक शक्तियों की कल्पना है। जबकि 'यव' शब्द में वाक्यशेष से निर्णय हो जाता है।

7. विवरण से शक्तिग्रह ⇒ विवरण यानि समानार्थक अन्य पद से उस पद का अर्थ कहना। यु. घट है 'इसका 'कलश है' ऐसे विवरण से घट पद की कलश में शक्ति का ग्रहण करना। ऐसे ही 'पचति' पद के 'पाकं करोति' विवरण से 'ति' आख्यात की शक्ति 'कृति' में है।

8. सिद्ध पद के सान्निध्य से शक्तिग्रह ⇒ यु. सहकारतरो प्रचुरं पिको रौति' यहाँ आम्रवृक्ष और प्रचुर, ये प्रसिद्ध पद हैं। आम्रवृक्ष हो और प्रचुर आवाज हो तो पिक कोयल्य सिवाय दूसरा कौन हो सकता है। इसलिए इन दो पद के सांनिध्य से पिक पद की शक्ति का कोयल्य में ग्रहण हुआ।

★ [शक्ति व्यक्ति में है या जाति में? इसकी चर्चा करते हैं। मीमांसक जाति में शक्ति मानता है, उसका खंडन -]

पू. (मीमांसक-) जाति में ही शक्ति है, व्यक्ति में नहीं क्योंकि

1. व्यभिचार होने से- यदि शक्ति व्यक्ति में रहती है तो वह किसी एक ही व्यक्ति में रहती है या सभी में। यदि किसी एक व्यक्ति में शक्ति मानो तो घट पद की शक्ति अनंत में से किसी एक ही घट पदार्थ में मानना पड़ेगी। एक घट में शक्ति मानने से घट पद से उसी एक घट का शाब्दबोध होगा किंतु ऐसा तो होता नहीं है। घट पद से तो सभी घट पदार्थ का शाब्दबोध होता है। इस प्रकार सभी घट में शक्ति न होने पर भी घट पद से सभी घट का शाब्दबोध होने से व्यभिचार दोष।

2. अनन्त गौरव- यदि सभी व्यक्ति में शक्ति मानोगे तो व्यक्ति जगत् में अनंत होने से एक पद की शक्ति अनंत मानना पड़ेगी।

इसलिए हम व्यक्ति में शक्ति नहीं मानते किंतु जाति में शक्ति मानते हैं। जाति जगत् में एक होने से शक्ति भी एक ही है। ex. घट पद की शक्ति घट व्यक्ति में नहीं, घटत्व जाति में है।

उ. (नैयायिक-) जाति में शक्ति मानोगे तो व्यक्ति का भान पद से कैसे होगा? पद से व्यक्ति का भान तो होना ही नहीं चाहिए।

पू. व्यक्ति के ज्ञान बिना व्यक्ति में रही जाति (व्यक्तिनिष्ठ जाति) का ज्ञान नहीं होता। इसलिए पद की शक्ति जाति में होने से पहले पद से व्यक्ति का, फिर व्यक्तिनिष्ठ जाति का ज्ञान होगा।

उ. यदि पद की शक्ति व्यक्ति में नहीं है तो पहले पद से व्यक्ति का भान कैसे होगा। ex. गो पद की शक्ति गोत्व में है तो गो पद से पहले गो व्यक्ति फिर गोत्व का ज्ञान आपके मत में होगा। किंतु गो पद की शक्ति गो व्यक्ति में नहीं है तो गो व्यक्ति का ज्ञान पहले कैसे होगा?

पू. गो पद की शक्ति तो गोत्व जाति में है किंतु गो व्यक्ति में उसकी लक्षणा करना।

उ. अनुपपत्ति... ⇒ जहाँ अन्वय की अनुपपत्ति होती है, वहाँ लक्षणा होती है। ex. 'गङ्गायां घोषः' में गंगा पद की शक्ति प्रवाह में है किंतु प्रवाह में घोष शब्द का अन्वय नहीं होने के कारण लक्षणा करते हैं। यहाँ तो ऐसी कोई अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है। ex. गौः अस्ति, इस

प्रयोग में गो पद की शक्ति गोत्व में माने तो भी 'गोत्व है' ऐसा अन्वय हो सकता है। तो फिर क्यों लक्षणा करना? अतः यहाँ लक्षणा की जरूर नहीं है।

इसलिए पद की शक्ति जाति में नहीं किंतु जातिविशिष्टव्यक्ति में मानना चाहिए।

पू. व्यक्ति में शक्ति मानने से व्यक्ति के अनंत होने से शक्ति भी अनंत मानने की आपत्ति होगी।

उ. सकलव्यक्तौ... ⇒ सभी गो व्यक्ति में एक ही शक्ति मानेंगे।

पू. ऐसा मानने पर अननुगम दोष होगा। गो व्यक्ति तो